प्राकृत भारती प्रकाशन : ११ :

जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग

लेखक
डा॰ सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर

प्रकाशक

१. प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर (राजस्थान)

प्राप्तिस्थान

१. नरेन्द्रकुमार सागरमल सराफा, शाजापुर (म० प्र०)

२ मोतीलाल बनारसीदास, चौक वाराणसी–१

३. पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, आई० टी० आई० रोड, वाराणसी-५

४. प्राकृत भारती संस्थान, यति श्यामलालजी का उपाश्रय,
मोतीसिंह भोमियो का रास्ता, जयपुर–३०२००२

प्रकाशन वर्ष

सन् १९८२

वीर निर्वाण स० २५०८

मूल्य : बीस रुपये मात्र

मुद्रक

बाबूलाल जैन फागुल्ल

महावीर प्रेस,

भेलूपुर, वाराणसी–५

समर्पण

संयम सेवा और साधना की प्रतिमूर्ति

पूज्य साध्वी श्री पानकँवरजी म० सा०

के

पावन चरणों में

सभक्ति समर्पित

जन्म विक्रम संवत् १९६२ दीक्षा विक्रम सम्वत् १९९०

प्रकाशकीय

प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, (राजस्थान) के द्वारा 'जैन, बौद्ध और गीता का साधना मार्ग' नामक पुस्तक प्रकाशित करते हुए हमे अतीव प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

आज के युग में जिस धार्मिक सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की आवश्यकता है, उसके लिए धर्मों का समन्वयात्मक दृष्टि से निष्पक्ष तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है, ताकि धर्मो के बीच बढती हुई खाई को पाटा जा सके और प्रत्येक धर्म के वास्तविक स्वरूप का बोध हो सके। इस दृष्टि बिन्दु को लक्ष्य में रखकर पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के निदेशक एव भारतीय धर्म-दर्शन के प्रमुख विद्वान् डा० सागरमल जैन ने जैन बौद्ध और गीता के आचार दर्शनो पर एक बृहद्काय शोध-प्रबन्ध आज से लगभग १५ वर्ष पूर्व लिखा था। उसी के साधना पक्ष से सम्बन्धित कुछ अध्यायो से प्रस्तुत ग्रन्थ की सामग्री का प्रणयन किया गया है। हमे आशा है कि शीघ्र ही उनका महाप्रबन्ध प्रकाश मे आयेगा, किन्तु उसके पूर्व परिचय के रूप मे यह लघु पुस्तक पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि वे उनके विद्वत्तापूर्ण प्रयास का कुछ आस्वाद ले सकें।

प्राकृत भारती द्वारा इसके पूर्व भी भारतीय धर्म, आचारशास्त्र एवं प्राकृत भाषा के १० ग्रन्थो का प्रकाशन हो चुका है, उसी क्रम मे यह उसका ११वाँ प्रकाशन है। इसके प्रकाशन मे हमे लेखक का विविध रूपो में जो सहयोग मिला है उसके लिए हम उनके आभारी है। महावीर प्रेस, भेलुपुर ने इसके मुद्रण कार्य को सुन्दर एव कलापूर्ण ढग से पूर्ण किया, एतदर्थ हम उनके भी आभारी है।

देवेन्द्रराज मेहता — सचिव
विनयसागर — सयुक्त सचिव

प्राकृत भारती सस्थान जयपुर, (राजस्थान)

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमे विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों के प्रतिपादन के साथ ही मानव जीवन के परम लक्ष्य एवं उसकी प्राप्ति के उपाय के सम्बन्ध मे गम्भीर तथा व्यापक विचार हुआ है। विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों तथा परम्पराओं ने अपनी-अपनी दृष्टि से विशिष्ट साधना मार्गो की स्थापना की है। प्रस्तुत पुस्तक मे जैन दर्शन के ख्यातिलब्ध विद्वान् तथा पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान के निदेशक डाक्टर सागरमल जैन ने जैन, बौद्ध और गीता के साधना मार्ग का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन विद्वत्तापूर्ण, गम्भीर एवं विचारोत्पादक है। इसी के साथ ही अत्यन्त सरल और सुबोध है। इसकी सबसे मुख्य विशेषता हमारी दृष्टि मे यह है कि विद्वान लेखक ने उपरोक्त साधना मार्गो के प्रतिपादन तथा मूल्यांकन में स्वय को किसी प्रकार के पूर्वाग्रह, पक्षपात तथा संकुचित दृष्टिकोण से पूर्णरूप से मुक्त रखा है। जैन दर्शन तथा परम्परा मे गम्भीर आस्था रखते हुए लेखक ने बौद्ध और भगवद्गीता के साधना मार्गो के प्रतिपादन में पूरी उदारता तथा निष्पक्ष दृष्टिकोण का परिचय दिया है। तुलनात्मक अध्ययन की इसी विधि को आधुनिक विद्वन् समाज ने सर्वश्रेष्ठ स्वीकार किया है। तुलनात्मक अध्ययन के क्षेत्र मे इस दृष्टि से लेखक का यह प्रयास अत्यन्त स्तुत्य तथा अनुकरणीय है।

भारतीय धर्म तथा सस्कृति अनेकता मे एकता के सार्वभौम सिद्धान्त पर प्रतिष्ठित है। साधना मार्ग भी इसी सत्य का उद्घाटन करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे यह स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि जैन, बौद्ध और गीता के साधना मार्ग स्वतन्त्र और भिन्न होते हुए भी मूलत एक है। समत्व का प्राप्ति भारतीय नैतिक साधना अथवा योग का मुख्य लक्ष्य ह। राग-द्वेष आदि समस्त मानसिक विकारो तथा अन्तर्द्वन्द्वों से मुक्त होने पर ही मनुष्य को समत्व की प्राप्ति होती है, उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है, यह भारतीय दर्शन की मान्यता है और चेतना के इसी उच्चतम धरातल को प्राप्त करन के लिये मुख्य रूप से विभिन्न साधना मार्गो अथवा योगों का प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य अपनी चेतना मे आमूल परिवर्तन करने तथा देश और काल की सीमा से मुक्त चेतना के अविचल और अनन्त स्वरूप को प्राप्त करने मे समर्थ है, यह भारतीय आध्यात्मिक दर्शन का उद्घोष है। निवर्तक धर्म के अनुसरण से ही मनुष्य को समत्व की तथा मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। सम्यक् ज्ञान तथा सदाचरण से सम्पन्न व्यक्ति ही महान् निवर्तक धर्म मार्ग पर चलने मे सक्षम होता है। इन सब मौलिक तथ्यों का लेखक ने पाण्डित्यपूर्ण विश्लेषण तथा प्रतिपादन किया है। प्रवर्तक धर्म तथा

निवर्तक धर्म मे मूलत कोई विरोध नही है यह भी लेखक ने स्पष्ट रूप मे दिखाया है। समाज एव व्यक्ति के कल्याण व उत्थान के लिये दोनो ही प्रकार के धर्म आवश्यक है। इन दोनो मार्गों के विषय मे जैन, बौद्ध और गीता के दृष्टिकोण मे जो अन्तर है उसका भी विद्वान् लेखक ने स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है।

प्रस्तुत पुस्तक स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र के विद्यार्थियो, शोध छात्रो तथा अन्य समस्त विद्वानो और जिज्ञासुओ के लिये उपयोगी सिद्ध होगी जो भारतीय दर्शन तथा साधना के गम्भीर तथा तुलनात्मक अध्ययन मे रुचि रखते है। इस प्रकार के उच्चस्तरीय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन कर डाक्टर सागरमल जैन ने साधना मार्ग पर उपलब्ध साहित्य मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इसके लिये सहृदय तथा विचारशील दार्शनिक समाज उनका आभारी होगा।

डॉ० रामशंकर मिश्र
प्रोफेसर एव अध्यक्ष दर्शनविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी,

प्रास्ताविक

मानव-अस्तित्व द्वि-आयामी एवं विरोधाभास पूर्ण है। वह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और वहाँ उस पर यान्त्रिक नियमों का आधिपत्य है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसे संकल्प स्वातन्त्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है मुक्त है। मनोविज्ञान की भाषा में जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं (Id) से अनुशासित है तो दूसरी ओर आदर्शात्मा (Super Ego) से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं (Id) उसकी शारीरिक मांगों की अभिव्यक्ति का प्रयास है तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक स्वभाव है, उसका निज स्वरूप है। जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल सतत-समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिए इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा असम्भव है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच एक सम्यक्-सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्तमान अस्तित्व के ये दो छोर हैं। उसकी जीवन-धारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है।

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक विकास

मानव जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रतप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिए 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिए 'संयम' या विराग की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवनदृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होते हैं तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या दृष्टि और दूसरी को सम्यक् दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा गया है। कठोप-

निषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमे से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम रूप प्रेय को और विवेकवान पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिए भोग और भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिए कर्म अपेक्षित है, इसी भोग-प्रधान जीवन दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिए विराग (संयम) और विराग के लिए आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है, इसी आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से तप-मार्ग का विकास हुआ।

इनमे पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी मे निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा अतः उसने अपनी साधना का लक्ष्य सुख-सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन मे उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि कामना की, वही पारलौकिक जीवन मे स्वर्ग (भौतिकसुख सुविधाओ की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। आनुभविक जीवन मे जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसके सुख-सुविधाओं के उपलब्धि के प्रयासो को सफल या विफल बना सकती है एवं उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर ही नही अपितु इन शक्तियो की कृपा पर निर्भर है, तो इन्हे प्रसन्न करने के लिए वह एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हे बलि और यज्ञो के माध्यम से सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म मे दो शाखाओ का विकास हुआ—(१) श्रद्धा प्रधान भक्ति-मार्ग और (२) यज्ञ-याग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमग मे निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् शारीरिक वासनाओ एव लौकिक एषणाओ से पूर्ण मुक्ति को मानव जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विरागको प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एव पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नही था, अतः निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कही दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि-कन्दराओं मे ले गया, जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यो एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्यमूलक तप-मार्ग का विकास हुआ, दूसरी ओर उस एकान्तिक जीवन मे चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो मुख्य शाखाओं मे विभक्त हो गया—(१) ज्ञान-मार्ग और (२) तप मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैत्तमिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मो के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है—
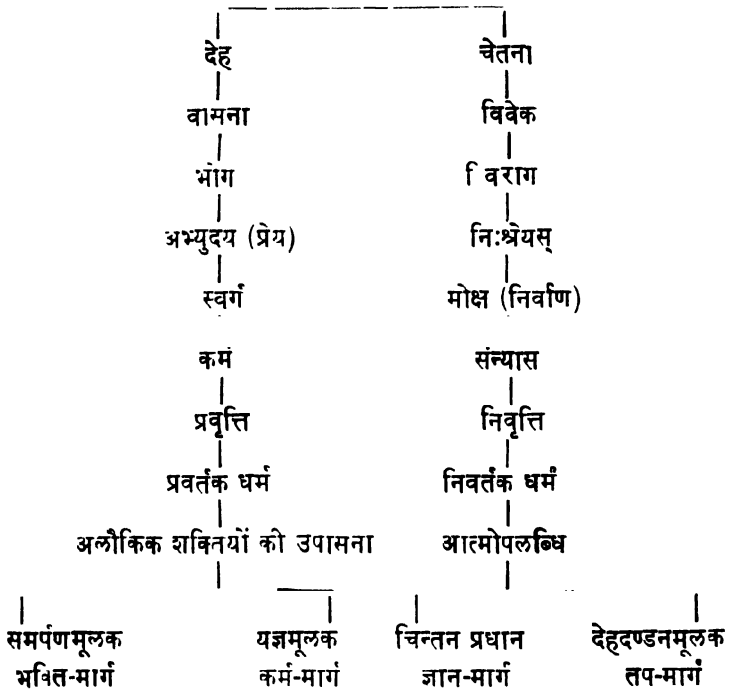
निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का विकाम भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमे रही हुई पारस्परिक भिन्नता को निम्न सारिणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है—

प्रवर्तक धर्म (दार्शनिक प्रदेय)	**निवर्तक धर्म** (दार्शनिक प्रदेय)
(१) जैविक मूल्यों की प्रधानता।	(१) आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता।
(२) विधायक जीवन दृष्टि।	(२) निषेधक जीवन-दृष्टि।
(३) समष्टिवादी।	(३) व्यष्टिवादी।
(४) व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन।	(४) व्यवहार मे नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर भी दृष्टि पुरुषार्थवादी।

(५) ईश्वरवादी।	(५) अनीश्वरवादी।
(६) ईश्वरीय कृपा पर विश्वास।	(६) वैयक्तिक प्रयासो पर विश्वास, कर्म-सिद्धान्त का समर्थन।
(७) साधना के बाह्य साधनो पर बल।	(७) आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
(८) जीवन का लक्ष्य स्वर्ग एव ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति।	(८) जीवन का लक्ष्य मोक्ष एव निर्वाण की प्राप्ति।
(सांस्कृतिक प्रदेय)	**(सांस्कृतिक प्रदेय)**
(९) वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन।	(९) जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
(१०) गृहस्थ-जीवन की प्रधानता।	(१०) सन्यास जीवन की प्रधानता।
(११) सामाजिक जीवन शैली।	(११) एकाकी जीवन शैली।
(१२) राजतन्त्र का समर्थन	(१२) जनतन्त्र का समर्थन।
(१३) शक्तिशाली की पूजा।	(१३) सदाचारी की पूजा।
(१४) विधि-विधानो एव कर्मकाण्डो की प्रधानता।	(१४) ध्यान और तप की प्रधानता।
(१५) ब्राह्मण संस्था (पुरोहित-वर्ग) का विकास।	(१५) श्रमण संस्था का विकास।
(१६) उपासना-मूलक।	(१६) समाधि मूलक।

प्रवर्तक धर्म मे प्रारम्भ मे जैविक मूल्यो की प्रधानता रही, वेदो मे जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओ के स्वर अधिक मुखर हुए है। उदाहरणार्थ—हम सौ वर्ष जीवे, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवे, हमारी गाये अधिक दूध देवे, वनस्पति प्रचुर मात्रा मे हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने जैविक मूल्यो के प्रति एक निषेधात्मक रूप अपनाया, उन्होने सासारिक जीवन की दु खमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि मे शरीर आत्मा का बन्धन है और ससार दु खो का सागर। उन्होने ससार और शरीर दोनो से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओ का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन-मूल्य है।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में

जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ जिसमे शारीरिक मांगों का ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और अध्यात्म के प्रतीक बन गये। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यो पर बल देते है अतः स्वाभाविक रूप मे वे समाजगामी बने क्योकि दैहिक आवश्यकता की पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज जीवन मे ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज विमुख और वैयक्तिक बन गये। यद्यपि दैहिक मूल्यो की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे, किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए उसके वैयक्तिक प्रयासो के बावजूद भी उनकी पूर्ति या आपूर्ति किन्ही अलौकिक प्राकृतिक शक्तियो पर निर्भर है तो वह देववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व-व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियो के नियन्त्रक तत्त्व के रूप मे उसने ईश्वर की कल्पना की और उसकी कृपा की आकाक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार मे नैष्कर्म्यता के समर्थक होते हुए भी कर्म सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगा कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वय उसके कारण है, अत निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगा। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गये। साधना के क्षेत्र मे जहाँ प्रवर्तक धर्म मे अलौकिक दैवीय शक्तियो की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य विधि-विधानो (यज्ञ-याग) का विकास हुआ; वही निवर्तक धर्मो ने चित्त-शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा कर्म-काण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

सास्कृतिक प्रदेयो की दृष्टि से प्रवर्तक धर्म वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्था (पुरोहित-वर्ग) के प्रमुख समर्थक रहे। ब्राह्मण मनुष्य और ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करने लगा तथा उसने अपनी आजीविका को सुरक्षित बनाये रखने के लिए एक ओर समाज जीवन मे अपने वर्चस्व को स्थापित रखना चाहा, तो दूसरी ओर धर्म को कर्म-काण्ड और जटिल विधि-विधानो की औपचारिकता मे उलझा दिया। परिणामस्वरूप ऊँच-नीच का भेद-भाव, जातिवाद और कर्मकाण्ड का विकास हुआ। किन्तु इसके विपरीत निवर्तक धर्म ने सयम, ध्यान और तप की एक सरल साधना पद्धति का विकास किया और वर्णव्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। उसमे ब्राह्मण संस्था के स्थान पर श्रमण संघो का विकास हुआ—जिसमे सभी जाति और वर्ग के लोगो को समान स्थान मिला राज्य संस्था की दृष्टि से जहाँ प्रवर्तक धर्म राजतन्त्र और अन्याय के प्रतिकार की नीति के समर्थक रहे, वहाँ निवर्तक जनतन्त्र और आत्मोत्सर्ग के समर्थक रहे।

समन्वय की धारा

यद्यपि उपरोक्त आधार पर हम प्रवर्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्तक धर्म अर्थात् श्रमण परम्परा की मूलभूत विशेषताओ और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रदेय को समझ सकते हैं किन्तु यह मानना एक भ्रान्ति पूर्ण ही होगा कि आज वैदिक धारा और श्रमण धारा ने अपने इस मूल स्वरूप को बनाये रखा है। एक ही देश और परिवेश मे रहकर दोनों ही धाराओं के लिए यह असम्भव था कि वे एक दूसरे के प्रभाव से अछूती रहे। अतः जहाँ वैदिक धारा मे श्रमण धारा (निवर्तक धर्म परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, वहाँ श्रमण धारा मे वैदिक धारा (प्रवर्तक धर्म परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। अतः आज के युग मे कोई धर्म परम्परा न तो एकान्त निवृत्ति मार्ग की पोषक है और न एकान्त प्रवृत्ति मार्ग की पोषक है।

वस्तुतः निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे एकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यवहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक जीवन जीती है तब तक एकान्त प्रवृत्ति और एकान्त निवृत्ति की बात करना एक मृग-मरीचिका मे जीना है। वस्तुत आवश्यकता इस बात की है कि हम वास्तविकता को समझे और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के तत्त्वो मे समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन शैली खोजे, जो व्यक्ति और समाज दोनो के लिए कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनित मानसिक एव सामाजिक सन्त्रास से मुक्ति दिला सकें।

भारत मे प्राचीन काल से ही ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। प्रवर्तक धारा के प्रतिनिधि हिन्दू धर्म मे ऐसे समन्वय के सबसे अच्छे उदाहरण ईशावास्योपनिषद् और भगवद्गीता हैं। भगवद्गीता मे प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के समन्वय का स्तुत्य प्रयास हुआ है। यद्यपि निवर्तक धारा का प्रतिनिधि जैनधर्म श्रमण परम्परा के मूल स्वरूप का रक्षण करता रहा है, फिर भी परवर्ती काल मे उसकी साधना पद्धति मे प्रवर्तक धर्म के तत्त्वों का प्रवेश हुआ ही है। श्रमण परम्परा की एक अन्य धारा के रूप मे विकसित बौद्धधर्म मे तो प्रवर्तक धारा के तत्त्वो का इतना अधिक प्रवेश हुआ कि महायान से तन्त्रयान की यात्रा तक वह अपने मूल स्वरूप से काफी दूर हो गया। किन्तु यदि हम कालक्रम मे हुए इन परिवर्तनो को दृष्टि से ओझल कर दे, तो इतना निश्चित है कि अपने मूल धारा के थोडे बहुत अन्तरो को छोडकर, जैन, बौद्ध और गीता की साधना पद्धतियाँ एक दूसरे के काफी निकट है।

प्रस्तुत प्रयास मे हमने इन तीनो की साधना पद्धतियो की निकटता को स्पष्ट करने का प्रयास किया है, जहाँ जो अन्तर दिखाई दिये, उनका भी यथास्थल सकेत कर दिया है। इस तुलनात्मक अध्ययन मे हमने यथा सम्भव तटस्थ दृष्टि से विचार किया है।

जैन धर्म को केन्द्र मे रखकर जो तुलना की गयी है, उसका एक मात्र कारण उस धारा से हमारा निकट परिचय ही है, अन्य कोई अभिनिवेश नही।

जैन, बौद्ध और गीता की साधना का मूल केन्द्र चैत्तसिक समत्व या चेतना की निराकुल दशा है। अतः सर्वप्रथम समत्व योग की चर्चा की गई है। इसके बाद त्रिविध साधना मार्ग और अविद्या (मिथ्यात्व) का विवेचन है। उसके पश्चात् सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) सम्यग्ज्ञान (ज्ञानयोग) सम्यक् चारित्र (कर्मयोग) और सम्यक्-तप का समत्व की सिद्धि के साधनो के रूप मे विवेचन किया गया है। अन्त मे प्रवृत्ति और निवृत्ति की विभिन्न परिप्रेक्ष्यो मे चर्चा की गई है और यह दिखाया गया है कि तीनो धाराओं मे उनका क्या और किस रूप मे स्थान है।

प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन मे हमे जिन ग्रन्थों और ग्रन्थकारो का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप मे सहयोग मिला, उन सबके प्रति हम हृदय से आभारी है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष एव भारतीय धर्म दर्शन के गम्भीर विद्वान डा० रामशकर जी मिश्र ने इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखने की कृपा की एतदर्थ हम उनके भी आभारी है।

प्राकृत भारती सस्थान के सचिव श्री देवेन्द्रराज मेहता के भी हम अत्यन्त आभारी है, जिनके सहयोग से यह प्रकाशन सम्भव हो सका है। महावीर प्रेस ने जिस तत्परता और सुन्दरता से यह कार्य सम्पन्न किया है उसके लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करना हमारा कर्तव्य है। अन्त मे हम पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार के डॉ० हरिहर सिंह, श्री मोहन लालजी, श्री मगल प्रकाश मेहता तथा शोध छात्र श्री रविशंकर मिश्र, श्री अरुण कुमार सिंह, श्री भिखारी राम यादव और श्री विजयकुमार जैन के भी आभारी है, जिनसे विविधरूपो मे सहायता प्राप्त होती रही है।

वाराणसी,

१५ अगस्त १९८२, **सागरमल जैन**

विषय-सूची

१. नैतिक साधना का केन्द्रीय तत्त्व समत्व-योग

समत्व की साधना ही सम्पूर्ण आचार-दर्शन का सार है। आचारगत सब विधि-निषेध और प्रयास इसी के लिए हैं। जहाँ जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ वहाँ समत्व बनाए रखने के प्रयास दृष्टिगोचर होते हैं। चैतसिक जीवन का मूल स्वभाव यह है कि वह बाह्य एवं आन्तरिक उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से उत्पन्न विक्षोभों को समाप्त कर साम्यावस्था बनाये रखने की कोशिश करता है। फ्रायड लिखते हैं कि चैतसिक जीवन और सम्भवतया स्नायविक जीवन की भी प्रमुख प्रवृत्ति है—आन्तरिक उद्दीपकों के तनाव को समाप्त करना एवं साम्यावस्था को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयासशील रहना।[1] एक लघु कीट भी अपने को वातावरण से समायोजित करने का प्रयास करता है। चेतन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह सदैव समत्व-केन्द्र की ओर बढ़ना चाहता है। समत्व के हेतु प्रयास करना ही जीवन का सारतत्त्व है।

सतत शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन बाह्य उत्तेजनाओं एवं संवेदनाओं से प्रभावित होने की प्रवृत्ति विकसित कर लेता है। परिणाम स्वरूप चेतन जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में ममत्व का आरोपण कर अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। सतत अभ्यास एवं स्व-स्वरूप का अज्ञान ही उसे समत्व के केन्द्र से च्युत करके बाह्य पदार्थों में आसक्त बना देता है। चेतन अपने शुद्ध द्रष्टाभाव या साक्षीपन को भूल कर बाह्य वातावरणजन्य परिवर्तनों से अपने को प्रभावित समझने लगता है। वह शरीर, परिवार एवं समाज के अन्य पदार्थों के प्रति ममत्व रखता है और इन पर-पदार्थों की प्राप्ति-अप्राप्ति या संयोग-वियोग में अपने को सुखी या दुःखी मानता है। उसमें 'पर' के प्रति आकर्षण या विकर्षण का भाव उत्पन्न होता है। वह 'पर' के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसी रागात्मक सम्बन्ध से वह बन्धन या दुःख को प्राप्त होता है। 'पर' में आत्म-बुद्धि से प्राणी में असंख्य इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं एवं उद्वेगों का जन्म होता है। प्राणी इनके वशीभूत हो कर इनकी पूर्ति व तृप्ति के लिए सदैव आकुल बना रहता है। यह आकुलता

१. Beyond the Pleasure Principle–S. Freud. उद्धृत-अध्यात्मयोग और चित्त-विकलन, पृ० २४६

ही उसके दुःख का मूल कारण है। यद्यपि वह इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा उन्हें शान्त करना चाहता है, परन्तु नयी-नयी कामनाओं के उत्पन्न होते रहने से वह सदैव ही आकुल या अशान्त बना रहता है और बाह्य जगत् में उनकी पूर्ति के लिए मारा-मारा फिरता है। यह आसक्ति या राग न केवल उसे ममत्व के स्वकेन्द्र से च्युत करता है, वरन् उसे बाह्य पदार्थों के आकर्षण क्षेत्र में खींचकर उसमें एक तनाव भी उत्पन्न कर देता है और इससे चेतना दो केन्द्रों में बँट जाती है। आचारांगसूत्र में कहा है, यह मनुष्य अनेकचित्त है, अर्थात् अनेकानेक कामनाओं के कारण मनुष्य का मन बिखरा हुआ रहता है। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति क्या करना चाहता है, एक तरह छलनी को जल से भरना चाहता है।[1] इन दो स्तरों पर चेतना में दोहरा संघर्ष उत्पन्न हो जाता है— १. चेतना के आदर्शात्मक और वासनात्मक पक्षों में (इसे मनोविज्ञान में 'ईड' और 'सुपर इगो' का संघर्ष कहा है) तथा २. हमारे वासनात्मक पक्ष का उस बाह्य परिवेश के साथ, जिसमें वह अपनी वासनाओं की पूर्ति चाहता है। इस विकेन्द्रीकरण और तज्जनित संघर्ष में आत्मा की सारी शक्तियाँ बिखर जाती हैं, कुण्ठित हो जाती हैं।

नैतिक साधना का कार्य इसी संघर्ष को समाप्त कर चेतन समत्व को यथावत् कर देना है, ताकि उस केन्द्रीकरण द्वारा वह अपनी ऊर्जाओं को जोड़कर आत्मशक्ति का यथार्थ प्रकटन कर सके।

एक अन्य दृष्टि से विचार करे तो हम बाह्य जगत् में रस लेने के लिए जैसे ही उसमें अपना आरोपण करते हैं, वैसे ही एक प्रकार का द्वैत प्रकट हो जाता है, जिसमें हम अपनेपन का आरोपण करते हैं, आसक्ति रखते हैं, वह हमारे लिए 'स्व' बन जाता है और उससे भिन्न या विरोधी 'पर' बन जाता है। आत्मा की समत्व के केन्द्र से च्युति ही उसे इन 'स्व' और 'पर' के दो विभागों में बाँट देती है। नैतिक चिन्तन में इन्हें हम क्रमशः राग और द्वेष कहते हैं। राग आकर्षण का सिद्धान्त है और द्वेष विकर्षण का। अपना-पराया, राग-द्वेष अथवा आकर्षण-विकर्षण के कारण हमारी चेतना में सदैव ही तनाव, संघर्ष अथवा द्वन्द्व बना रहता है, यद्यपि चेतना या आत्मा अपनी स्वाभाविक शक्ति के द्वारा सदैव साम्यावस्था या संतुलन बनाने का प्रयास करती रहती है। लेकिन राग एवं द्वेष किसी भी स्थायी सन्तुलन की अवस्था को सम्भव नहीं होने देते। यही कारण है कि भारतीय नैतिकता में राग-द्वेष से ऊपर उठना सम्यक जीवन की अनिवार्य शर्त मानी गई है।

भारतीय नैतिक चिन्तन सदैव ही इस दृष्टि से जागरूक रहा है। जैन नैतिकता का वीतरागता या समत्वयोग (समभाव) का आदर्श और बौद्ध नैतिकता का सम्यक् समाधि या वीततृष्णता का आदर्श राग-द्वेष के इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर समत्व

१. आचारांग, १।३।२।११४

(साम्यावस्था) में स्थायी अवस्थिति ही है। गीता का नैतिक आदर्श भी इस द्वन्द्वातीत साम्यावस्था की उपलब्धि है। क्योंकि वही अबन्धन की अवस्था है।[1] गीता के अनुसार इच्छा (राग) एवं द्वेष से समुत्पन्न यह द्वन्द्व ही अज्ञान है, मोह है। इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर ही परमात्मा की आराधना सम्भव होती है।[2] जो इस द्वन्द्व से विमुक्त हो जाता है वही परमपद मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त हो जाता है।[3] इस प्रकार राग-द्वेषातीत समत्व-प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न ही समालोच्य आचार-दर्शनों की नैतिक साधना का केन्द्रीय तत्त्व है।

§ २. जैन-आचारदर्शन में समत्व-योग

जैन-विचार में नैतिक एवं आध्यात्मिक साधना के मार्ग को समत्व-योग कह सकते हैं। इसे जैन पारिभाषिक शब्दावली में सामायिक कहा जाता है। समग्र जैन नैतिक तथा आध्यात्मिक साधना को एक ही शब्द में समत्व की साधना कह सकते हैं। सामायिक शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक अय् धातु से बना है। अय् धातु के तीन अर्थ हैं—ज्ञान, गमन और प्रापण। ज्ञान शब्द विवेक-बुद्धि का, गमन शब्द आचरण या क्रिया का और प्रापण शब्द प्राप्ति या उपलब्धि का द्योतक है। सम् उपसर्ग उनकी सम्यक् या उचितता का बोध कराता है। सम्यक् की प्राप्ति ही सम्यक्त्व या सम्यक्दर्शन है। कुछ विचारकों के अनुसार सम्यक् क्रिया विधि-पक्ष में सम्यक्चारित्र और भावपक्ष में सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) है। दूसरे कुछ विचारकों की दृष्टि में सम्यक् ज्ञान शब्द में दर्शन भी अन्तर्निहित है। सम् का एक अर्थ रागद्वेष से अतीत अवस्था भी है और अय् धातु का प्रापण या प्राप्तिपरक अर्थ लेने पर उसका अर्थ होगा राग-द्वेष से अतीत अवस्था की प्राप्ति, जो प्रकारान्तर से मुक्ति का सूचक है। इस प्रकार सामायिक (समत्वयोग) शब्द एक ओर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप त्रिविध साधना-पथ को अपने में समाहित किये हुए है तो दूसरी ओर इस त्रिविध साधना-पथ के साध्य (मुक्ति) से भी समन्वित है।

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में सामायिक के तीन प्रकार बताये हैं:—१. सम्यक्त्व-सामायिक, २. श्रुत-सामायिक और ३. चारित्र-सामायिक। चारित्र सामायिक के श्रमण और गृहस्थ साधकों के आचार के आधार पर दो भेद किये हैं।[4] सम्यक्त्व सामायिक का अर्थ सम्यग्दर्शन, श्रुत-सामायिक का अर्थ सम्यग्ज्ञान और चारित्र सामायिक का अर्थ सम्यक्चारित्र है। इन्हें आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में चित्तवृत्ति का समत्व, बुद्धि का समत्व और आचरण का समत्व कह सकते हैं। इस प्रकार जैन-विचार का साधना-पथ वस्तुतः समत्वयोग की साधना ही है, जो मानव-चेतना के तीन

१. गीता ४।१२ — २. वही, ७।२७-२८

३. वही, १५।५ — ४. आवश्यकनिर्युक्ति ७९६

पक्ष भाव, ज्ञान और संकल्प के आधार पर त्रिविध बन गया है। भाव, ज्ञान और संकल्प को सम बनाने का प्रयास ही समत्व-योग की साधना है।

जैन दर्शन में विषमता (दुःख) का कारण

यदि हम यह कहें कि जैनधर्म के अनुसार जीवन का साध्य समत्व का संस्थापन है, समत्व-योग की साधना है, तो सबसे पहले हमें यह जान लेना है कि समत्व से च्युति का कारण क्या है ? जैन-दर्शन में मोहजनित आसक्ति ही आत्मा के अपने स्वकेन्द्र से च्युति का कारण है। आचार्य कुन्दकुन्द का कथन है कि मोह-क्षोभ से रहित आत्मा की अवस्था सम है[1], अर्थात् मोह और क्षोभ से युक्त चेतना या आत्मा की अवस्था ही विषमता है। पंडित सुखलालजी का कथन है कि "शारीरिक एवं प्राणमय जीवन के अभ्यास के कारण चेतन अपने सहज समत्व-केन्द्र का परित्याग करता है। वह जैसे-जैसे अन्य पदार्थों में रस लेता है, वैसे-वैसे जीवनोपयोगी अन्य पदार्थों में अपने अस्तित्व (समत्व) का आरोपण करने लगता है। यह उसका स्वयं अपने बारे में मोह या अज्ञान है। यह अज्ञान ही उसे समत्व-केन्द्र में से च्युत करके इतर परिमित वस्तुओं में रस लेने वाला बना देता है। यह रस (आसक्ति) ही रागद्वेष जैसे क्लेशों का प्रेरक तत्त्व है। इस तरह चित्त का वृत्तिचक्र अज्ञान एवं क्लेशो के आवरण से इतना अधिक आवृत्त एवं अवरुद्ध हो जाता है कि उसके कारण जीवन प्रवाह-पतित ही बना रहता है—अज्ञान, अविद्या अथवा मोह, जिसे ज्ञेयावरण भी कहते है, चेतनगत समत्व-केन्द्र को ही आवृत्त करता है, जबकि उसमे पैदा होने वाला क्लेश चक्र, (रागादि भाव) बाह्य वस्तुओं में ही प्रवृत्त रहता है।[2] सारी विषमताएँ कर्म-जनित है और कर्म राग-द्वेष जनित है। इस प्रकार आत्मा का राग-द्वेष से युक्त होना ही विषमता है, दुःख है, वेदना है और यही दुःख विषमता का कारण भी है। समत्व या राग-द्वेष से अतीत अवस्था आत्मा की स्वभाव-दशा है। राग-द्वेष से युक्त होना विभाव-दशा है, परपरिणति है। इस प्रकार परपरिणति, विभाव या विषमभाव का कारण रागात्मकता या आसक्ति है। आसक्ति से प्राणी स्व से बाहर चेतना से भिन्न पदार्थों या परपदार्थों की प्राप्ति या अप्राप्ति मे सुख की कल्पना करने लगता है। इस प्रकार चेतन बाह्य कारणों से अपने भीतर विचलन उत्पन्न करता है, पदार्थों के संयोग-वियोग या लाभ-अलाभ में सुख-दुःख की कल्पना करने लगता है। चित्तवृत्ति बहिर्मुख हो जाती है, सुख की खोज मे बाहर भटकती रहती है। यह बहिर्मुख चित्तवृत्ति चिन्ता, आकुलता, विक्षोभ आदि उत्पन्न करती है और चेतना या आत्मा का सन्तुलन भंग कर देती है। यही चित्त या आत्मा की विषमावस्था समग्र दोषों एवं अनैतिक आचरणों की जन्म-भूमि है। विषम भाव या राग-द्वेष होने से कामना, वासना, मूर्च्छा, अहंकार, पराश्रयता, आकुलता, निर्दयता, संकीर्णता, स्वार्थ-

---

१. प्रवचनसार, १।५ २. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ८६

परता, सुख-लोलुपता आदि दोषो की वृद्धि होती रहती है जो व्यक्ति, परिवार, समाज एव विश्व के लिए विषमताओ का कारण बनती है। सकीर्णता, स्वार्थपरता एव सुख-लोलुपता के कारण व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से येन केन प्रकारेण अपना स्वार्थ साधना चाहता है। उसके इन कृत्यो एव प्रवृत्तियो से परिजन, समाज देश व विश्व का अहित होता है। प्रतिक्रियास्वरूप दोहरा सघर्ष पैदा होता है। एक ओर उसकी वासनाओ के मध्य आन्तरिक सघर्ष चलता रहता है, तो दूसरी ओर उसका बाह्य वातावरण से अर्थात् समाज, देश और विश्व से सघर्ष चलता रहता है।

इसी सघर्ष की समाप्ति के लिए और विषमताओ से ऊपर उठने के लिए समत्व-योग की साधना आवश्यक है। समत्व-योग राग-द्वेष-जन्य चेतना की सभी विकृतियो दूर कर आत्मा को अपनी स्वभाव-दशा मे अथवा उसके अपने स्व-स्वरूप मे प्रतिष्ठित करता है।

जैनधर्म में समत्व योग का महत्त्व

समत्व-योग के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए जैनागमो मे कहा गया है कि व्यक्ति चाहे दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, बौद्ध हो अथवा अन्य किसी मत का, जो भी समभाव मे स्थित होगा वह निस्सदेह मोक्ष प्राप्त करेगा।[1] एक आदमी प्रतिदिन लाख स्वर्ण-मुद्राओ का दान करता है और दूसरा समत्व-योग की साधना करता है, किन्तु वह स्वर्ण-मुद्राओ का दानी व्यक्ति समत्व-योग के साधक की समानता नही कर सकता।[2] करोडो जन्म तक निरन्तर उग्र तपश्चरण करनेवाला साधक जिन कर्मो का नाश नही कर सकता, उनको समभाव का साधक मात्र आधे ही क्षण मे नष्ट कर डालता है।[3] चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेश धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चारित्र का पालन करे, परन्तु समताभाव के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा।[4] जो भी साधक अतीतकाल मे मोक्ष गए हैं, वर्तमान मे जा रहे है, और भविष्य मे जायेंगे, यह सब समत्वयोग का प्रभाव है।[5] आचार्य हेमचन्द्र समभाव की साधना को राग-विजय का मार्ग बताते हुए कहते है कि तीव्र आनन्द को उत्पन्न करने वाले समभाव रूपी जल में अवगाहन करने वाले पुरुषो का राग-द्वेष रूपी मल सहज नष्ट हो जाता है।[6] समताभाव के अवलम्बन से अन्तमुहूर्त मे मनुष्य जिन कर्मो का नाश कर डालता है, वे तीव्र तपश्चर्या से करोडो जन्मो मे भी नही नष्ट हो सकते।[7] जैसे आपस मे

१. सेयम्बरो वा आसम्बरो वा बुद्धो वा तहव अन्नो वा ।
समभावभावियप्पा लहइ मुक्ख न सदेहो ।।—हरिभद्र

२-५. सामायिक सूत्र (अमरमुनि) पृ० ६३ पर उद्धृत ।

६-७. योगशास्त्र, ४।५०-५३ ।

चिपकी हुई वस्तुएँ बांस आदि की सलाई से पृथक् की जाती है, उसी प्रकार परस्पर बद्ध-कर्म और जीव को साधु समत्वभाव की शलाका से पृथक् कर देते है।[१] समभाव रूप सूर्य के द्वारा राग-द्वेष और मोह का अंधकार नष्ट कर देने पर योगी अपनी आत्मा में परमात्मा का स्वरूप देखने लगते है।[२]

जैनधर्म में समत्वयोग का अर्थ

समत्वयोग का प्रयोग हम जिस अर्थ में कर रहे है उसके प्राकृत पर्यायवाची शब्द है—सामाइय या समाहि। जैन आचार्यों ने इन शब्दों की जो अनेक व्याख्याएँ की हैं, उनके आधार पर समत्व-योग का स्पष्ट अर्थ बोध हो सकता है।

१. सम अर्थात् राग और द्वेष की वृत्तियों से रहित मन स्थिति प्राप्त करना समत्वयोग (सामायिक) है।

२. शम (जिसका प्राकृत रूप भी सम है) अर्थात् क्रोधादि कषायों को शमित (शांत) करना समत्वयोग है।

३. सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव रखना समत्वयोग है।

४. सम का अर्थ एकीभाव है और अय का अर्थ गमन है अर्थात् एकीभाव के द्वारा बहिर्मुखता (परपरिणति) का त्यागकर अन्तर्मुख होना। दूसरे शब्दों मे आत्मा का स्वस्वरूप मे रमण करना या स्वभाव-दशा मे स्थित होना ही समत्वयोग है।

५. सभी प्राणियो के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्वयोग है।

६. सम शब्द का अर्थ अच्छा है और अयन शब्द का अर्थ आचरण है, अत. अच्छा या शुभ आचरण भी समत्वयोग (सामायिक) है।[३]

नियमसार[४] और अनुयोगद्वारसूत्र[५] मे आचार्यो ने इस समत्व की साधना के स्वरूप का बहुत ही स्पष्ट वर्णन किया है। सर्व पापकर्मो मे निवृत्ति, समस्त इन्द्रियों का सुसमाहित होना, सभी प्राणियों के प्रति मैत्रीभाव एवं आत्मवत् दृष्टि, तप, संयम और नियमों के रूप मे सदैव ही आत्मा का सान्निध्य, समस्त राग और द्वेषजन्य विकृतियों का अभाव, आर्त एव रौद्र चिन्तन, हास्य, रति, अरति, शोक, घृणा, भय एवं कामवासना आदि मनोविकारों की अनुपस्थिति और प्रशस्त विचार ही आर्हत् दर्शन में समत्व का स्वरूप है।

१-४. योगशास्त्र, ४।५०-५३।
५. (अ) सामायिकसूत्र (अमरमुनिजी), पृ० २७-२८।
(ब) विशेषावश्यकभाष्य—३४७७-३४८३।
६. नियमसार, १२२-१३३ ७. अनुयोगद्वार, १२७-१२८

जैन आगमों में समत्वयोग का निर्देश

जैनागमों में समत्वयोग सम्बन्धी अनेक निर्देश यत्र-तत्र बिखरे हुए है, जिनमे से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं। आर्य महापुरुषों ने समभाव मे धर्म कहा है।[1] साधक न जीने की आकांक्षा करे और न मरने की कामना करे। वह जीवन और मरण दोनों मे किसी तरह की आसक्ति न रखे, समभाव से रहे।[2] शरीर और इन्द्रियों के क्लान्त होने पर भी साधक समभाव रखे। इधर-उधर गति एवं हलचल करता हुआ भी साधक निंद्य नही है, यदि वह अन्तरंग मे अविचल एवं समाहित है।[3] अतः साधक मन को ऊँचा-नीचा (डांवाडोल) न करे।[4] साधक को अन्दर और बाहर सभी ग्रन्थियो (बन्धनरूप गाँठों) से मुक्त होकर जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए।[5] जो समस्त प्राणियो के प्रति समभाव रखता है, वही श्रमण है।[6] समता से ही श्रमण कहलाता है।[7] तृण और कनक (स्वर्ण) मे जब समान बुद्धि (समभाव) रहती है, तभी उसे प्रव्रज्या कहा जाता है।[8] जो न राग करता है, न द्वेष वही वस्तुतः मध्यस्थ (सम) है, शेष सब अमध्यस्थ हैं।[9] अतः साधक सदैव विचार करे कि सब प्राणियो के प्रति मेरा समभाव है, किसी से मेरा वैर नही है।[10] क्योंकि चेतना (आत्मा) चाहे वह हाथी के शरीर मे हो, मनुष्य के शरीर मे हो या कुन्थुआ के शरीर मे हो, चेतन तत्त्व की दृष्टि से समान ही है।[11] इस प्रकार जैन आचार-दर्शन का निर्देश यही है कि आन्तरिक वृत्तियों मे तथा सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, जीवन-मरण आदि परिस्थितियों मे सदैव समभाव रखना चाहिए और जगत् के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझकर व्यवहार करना चाहिए। संक्षेप मे विचारों के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है तृष्णा, आसक्ति तथा राग-द्वेष के प्रत्ययो मे ऊपर उठना और आचरण के क्षेत्र में समभाव का अर्थ है जगत् के सभी प्राणियो को अपने समान मानकर उनके प्रति आत्मवत् व्यवहार करना; यही जैन नैतिकता की समत्वयोग की साधना है।

३. बौद्ध आचार-दर्शन में समत्व-योग

बौद्ध आचार-दर्शन में साधना का जो अष्टांगिक मार्ग है उसमें प्रत्येक साधन-पक्ष का सम या सम्यक् होना आवश्यक है। बौद्ध-दर्शन मे समत्व प्रत्येक साधन-पक्ष का अनिवार्य अंग है। पालिभाषा का 'सम्मा' शब्द सम् और सम्यक् दोनों अर्थों की अव-

१. आचारांग, १।८।३।२ २. वही, १।८।८।४ ३. वही, १।८।८।१४
४. वही, २।३।१ ५. वही, १।८।८।११ ६. प्रश्नव्याकरणसूत्र, २।४
७. उत्तराध्ययन २५।३२ ८. बोधपाहुड, ४७ ९. आवश्यकनिर्युक्ति, ८०४
१०. नियमसार, १०४ ११. भगवतीसूत्र, ७।८

धारणा करता है। यदि सम्यक् शब्द का अर्थ 'अच्छा' ग्रहण करते हैं तो प्रश्न यह होगा कि अच्छे से क्या तात्पर्य है? वस्तुत. बौद्ध-दर्शन मे इनके सम्यक् होने का तात्पर्य यही हो सकता है कि ये साधन व्यक्ति को राग-द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठने की दिशा में कितने सहायक है। इनका सम्यक्त्व राग-द्वेष की वृत्तियों के कम करने में है अथवा सम्यक् होने का अर्थ है राग-द्वेष और मोह से रहित होना। राग-द्वेष का प्रहाण ही समत्व-योग की साधना का प्रयास है।

बौद्ध अष्टांग आर्य मार्ग मे अन्तिम सम्यक् समाधि है। यदि हम समाधि को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करे तो निश्चित ही वह मात्र ध्यान की एक अवस्था न होकर चित्तवृत्ति का 'समत्व' है, चित्त का राग-द्वेष से शून्य होना है और इस अर्थ मे वह जैन-परम्परा की 'समाहि' (समाधि-सामायिक) से भी अधिक दूर नही है। सूत्रकृतागचूर्णि मे कहा गया है कि राग-द्वेष का परित्याग समाधि है[१]। वस्तुतः जब तक चित्तवृत्तियाँ सम नही होती, तब तक समाधि-लाभ सभव नही। भगवान् बुद्ध ने कहा है, जिन्होंने धर्मो को ठीक प्रकार से जान लिया है, जो किसी मत, पक्ष या वाद मे नही है, वे सम्बुद्ध है, समद्रष्टा है और विषम स्थिति मे भी उनका आचरण सम रहता है[२]। बुद्धि, दृष्टि और आचरण के साथ लगा हुआ सम् प्रत्यय बौद्ध-दर्शन मे समत्वयोग का प्रतीक है जो बुद्धि, मन और आचरण तीनो को सम बनाने का निर्देश देता है। संयुत्तनिकाय मे कहा है, 'आर्यो का मार्ग सम है, आर्य विषमस्थिति मे भी सम का आचरण करते है[3]। धम्मपद मे बुद्ध कहते है, जो समत्व-बुद्धि से आचरण करता है तथा जिसकी वासनाएँ शान्त हो गयी है—'जो जितेन्द्रिय है, संयम एवं ब्रह्मचर्य का पालन करता है, सभी प्राणियों के प्रति दण्ड का त्याग कर चुका है अर्थात् सभी के प्रति मैत्रीभाव रखता है, किसी को कष्ट नही देता है, ऐसा व्यक्ति चाहे वह आभूषणो को धारण करने वाला गृहस्थ ही क्यों न हो, वस्तुतः श्रमण है, भिक्षुक है[४]। जैन-विचारणा मे 'सम' का अर्थ कषायों का उपशम है। इस अर्थ मे भी बौद्ध विचारणा समत्वयोग का समर्थन करती है। मज्झिम-निकाय मे कहा गया है—'राग-द्वेष एवं मोह का उपशम ही परम आर्य-उपशम है[५]। बौद्ध परम्परा मे भी जैन परम्परा के समान ही यह स्वीकार किया गया है कि समता का आचरण करनेवाला ही श्रमण है[६]। समत्व का अर्थ आत्मवत् दृष्टि स्वीकार करने पर भी बौद्ध विचारणा मे उसका स्थान निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है। सुत्तनिपात मे कहा गया है कि 'जैसा मै हूँ वैसे ही जगत् के सभी प्राणी है, इसलिए सभी प्राणियों को

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, १।२।२ २. संयुत्तनिकाय, १।१।८ ३. वही, १।२।६
४. धम्मपद, १४२ ५. मज्झिमनिकाय, ३।४०।२
६. धम्मपद ३८८ तुलना कीजिए—उत्तराध्ययन, २५।३२

अपने समान समझकर आचरण करे'।[1] समत्व का अर्थ राग द्वेष का प्रहाण या राग-द्वेष की शून्यता करने पर भी उसका बौद्ध विचारणा मे समत्वयोग का महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। उदान मे कहा गया है कि राग-द्वेष और मोह का क्षय होने से निर्वाण प्राप्त होता है।[2] बौद्ध-दर्शन मे वर्णित चार ब्रह्मविहार अथवा भावनाओ मे भी समत्व-योग का चिन्तन परिलक्षित होता है। मैत्री, करुणा और मुदिता (प्रमोद) भावनाओ का मुख्य आधार आत्मवत् दृष्टि है इसी प्रकार माध्यस्थ भावना या उपेक्षा के लिए सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, लौह-कांचन मे समभाव का होना आवश्यक है। वस्तुतः बौद्ध विचारणा जिस माध्यस्थवृत्ति पर बल देती है, वह समत्वयोग ही है।

४. गीता के आचार-दर्शन में समत्वयोग

गीता के आचार-दर्शन का मूल स्वर भी समत्वयोग का गायन है। गीता को योग-शास्त्र कहा गया है। योग शब्द युज् धातु से बना है, युज् धातु दो अर्थों मे आता है। उसका एक अर्थ है जोडना, सयोजित करना और दूसरा अर्थ है सन्तुलित करना, मन-स्थिरता। गीता दोनो अर्थो मे उसे स्वीकार करती है। पहले अर्थ मे जो जोड़ता है, वह योग है अथवा जिसके द्वारा जुडा जाता है या जो जुडता है वह योग है,[3] अर्थात् जो आत्मा को परमात्मा से जोडता है वह योग है। दूसरे अर्थ मे योग वह अवस्था है जिसमे मन स्थिरता होती है।[4] डा० राधाकृष्णन् के शब्दो मे योग का अर्थ है अपनी आध्यात्मिक शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करना, उन्हे सन्तुलित करना और बढाना।[5] गीता सर्वांगपूर्ण योग-शास्त्र प्रस्तुत करती है। लेकिन प्रश्न उठता है कि गीता का यह योग क्या है? गीता योग शब्द का प्रयोग कभी ज्ञान के साथ कभी कर्म के साथ और कभी भक्ति अथवा ध्यान के अर्थ मे करती है। अत यह निश्चय कर पाना अत्यन्त कठिन है कि गीता मे योग का कौन-सा रूप मान्य है। यदि गीता एक योग-शास्त्र है तो ज्ञानयोग का शास्त्र है या कर्मयोग का शास्त्र है अथवा भक्तियोग का शास्त्र है? यह विवाद का विषय रहा है। आचार्य शकर के अनुसार गीता ज्ञानयोग का प्रतिपादन करती है।[6] तिलक उसे कर्मयोग-शास्त्र कहते है। वे लिखते है कि यह निर्विवाद सिद्ध है कि गीता मे योग शब्द प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् कर्मयोग के अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है।[7] श्री रामानुजाचार्य, निम्बार्क और श्री वल्लभाचार्य के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य विषय भक्तियोग है।[8] गाधीजी उसे अनासक्तियोग कहकर कर्म और भक्ति का समन्वय करते

१. सुत्तनिपात, ३।३७।७
२. उदान, ८।६
३. युज्यते एतदिति योगः, युज्यते अनेन इति योग, युज्यते तस्मिन इति योगः
४. योगसूत्र, १।२
५. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५५
६. गीता (शा०), २।११
७. गीतारहस्य, पृ० ६०
८. गीता (रामा०), १।१ पूर्व कथन

है। डॉ० राधाकृष्णन् उसमें प्रतिपादित ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग को एक-दूसरे का पूरक मानते है।[1]

लेकिन गीता मे योग का यथार्थ स्वरूप क्या है, इसका उत्तर गीता के गम्भीर अध्ययन से मिल जाता है। गीताकार ज्ञानयोग, कर्मयोग, और भक्तियोग शब्दों का उपयोग करता है, लेकिन समस्त गीता शास्त्र मे योग की दो ही व्याख्याएँ मिलती हैं:— १. समत्वं योग उच्यते (२।४८) और २. योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)। अतः इन दोनों व्याख्याओं के आधार पर ही यह निश्चित करना होगा कि गीताकार की दृष्टि में योग शब्द का यथार्थ स्वरूप क्या है ? गीता की पुष्पिका से प्रकट है कि गीता एक योग-शास्त्र है अर्थात् वह यथार्थ को आदर्श से जोड़ने की कला है, आदर्श और यथार्थ मे सन्तुलन लाती है। हमारे भीतर का असन्तुलन दो स्तरों पर है, जीवन मे दोहरा संघर्ष चल रहा है। एक चेतना के शुभ और अशुभ पक्षों मे और दूसरा हमारे बहिर्मुखी स्व और बाह्य वातावरण के मध्य। गीता योग की इन दो व्याख्याओं के द्वारा इन दोनों संघर्षो मे विजयश्री प्राप्त करने का संदेश देती है। संघर्ष के उस रूप की, जो हमारी चेतना के ही शुभ या अशुभ पक्ष मे या हमारी आदर्शात्मक और वासनात्मक आत्मा के मध्य चल रहा है, पूर्णतः समाप्ति के लिए मानसिक समत्व की आवश्यकता होगी। यहाँ योग का अर्थ है 'समत्वयोग' क्योंकि इस स्तर पर कर्म की कोई आवश्यकता नही है। यहाँ योग हमारी वासनात्मक आत्मा को परिष्कृत कर उसे आदर्शात्मा या परमात्मा से जोड़ने की कला है। यह योग आध्यात्मिक योग है, मन की स्थिरता है, विकल्पों एवं विकारों की शून्यता है। यहाँ पर योग का लक्ष्य हमारे अपने ही अन्दर है। यह एक आन्तरिक समायोजन है, वैचारिक एवं मानसिक समत्व है। लेकिन उस संघर्ष की समाप्ति के लिए जो कि व्यक्ति और उसके वातावरण के मध्य है, कर्म-योग की आवश्यकता होगी। यहाँ योग की व्याख्या होगी 'योग कर्मसु कौशलम्' यहाँ योग युक्ति है, उपाय है जिसके द्वारा व्यक्ति वातावरण में निहित अपने भौतिक लक्ष्य की प्राप्ति करता है। यह योग का व्यावहारिक पक्ष है जिसमे जीवन के व्यावहारिक स्तर पर समायोजन किया जाता है।

वस्तुतः मनुष्य न निरी आध्यात्मिक सत्ता है और न निरी भौतिक सत्ता है। उसमें शरीर के रूप मे भौतिकता है और चेतना के रूप मे आध्यात्मिकता है। यह भी सही है कि मनुष्य ही जगत् में एक ऐसा प्राणी है जिसमे जड पर चेतन के शासन का सर्वाधिक विकास हुआ है। फिर भी मानवीय चेतना को जिस भौतिक आवरण में रहना पड़ रहा है, वह उसकी नितात अवहेलना नही कर सकती। यही कारण है कि मानवीय चेतना को दो स्तरों पर समायोजन करना होता है—१. चैतसिक (आध्यात्मिक)

१. भगवद्गीता (रा०), पृ० ८२

स्तर पर और २. भौतिक स्तर पर। गीताकार द्वारा प्रस्तुत योग की उपर्युक्त दो व्याख्याएँ क्रमशः इन दो स्तरों के सन्दर्भ मे है। वैचारिक या चैत्तसिक स्तर पर जिस योग की साधना व्यक्ति को करनी है, वह समत्वयोग है। भौतिक स्तर पर जिस योग की साधना का उपदेश गीता में है वह कर्म कौशल का योग है।

तिलक ने गीता और अन्य ग्रन्थों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि योग शब्द का अर्थ युक्ति, उपाय और साधन भी है[1]। चाहे हम योग शब्द का अर्थ जोडनेवाला[2] स्वीकारें या तिलक के अनुसार युक्ति या उपाय मानें[3], दोनो ही स्थितियो मे योग शब्द साधन के अर्थ मे ही प्रयुक्त किया जाता है। लेकिन योग शब्द केवल साधन के अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। जब हम योग शब्द का अर्थ मन स्थिरता[4] करते है तो वह साधन के रूप मे नही होता है, वरन् वह स्वत साध्य ही होता है। यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि गीता मे चित्त-समाधि या समत्व के अर्थ मे योग शब्द का प्रयोग नही है। स्वयं तिलकजी ही लिखते है कि गीता मे योग, योगी, अथवा योग शब्द से बने हुए सामासिक शब्द लगभग अस्सी बार आये है, परन्तु चार पांच स्थानो के सिवा (६।१२–२३) योग शब्द से 'पातंजल योग' (योगश्चित्तवृत्तिनिरोध) अर्थ कही भी अभिप्रेत नही है—सिर्फ युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, जोड, मेल यही अर्थ कुछ हेर-फेर से समूची गीता मे पाये जाते है[5]। इसमे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि गीता मे योग शब्द मन की स्थिरता या समत्व के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि गीता दो अर्थो में योग शब्द का उपयोग करती है, एक साधन के अर्थ मे दूसरे साध्य के अर्थ मे। जब गीता योग शब्द की व्याख्या 'योग कर्मसु कौशलम' के अर्थ मे करती है, तो यह साधन-योग की व्याख्या है। वस्तुत हमारे भौतिक स्तर पर अथवा चेतना और भौतिक जगत् (व्यक्ति और वातावरण) के मध्य जिस समायोजन की आवश्यकता है, वहाँ पर योग शब्द का यही अर्थ विवक्षित है। तिलक भी लिखते है एक ही कर्म को करने के अनेक योग या उपाय हो सकते है, परन्तु उनमे से जो उपाय या साधन उत्तम हो उसीको योग कहते है[6]। योग कर्मसु कौशलम् की व्याख्या भी यही कहती है कि कर्म मे कुशलता योग है। किसी क्रिया या कर्म को कुशलता पूर्वक सम्पादित करना योग है। इस व्याख्या से यह भी स्पष्ट है कि इसमे योग कर्म का एक साधन है जो उसकी कुशलता मे निहित है अर्थात् योग कर्म के लिए है। गीता की योग शब्द की दूसरी व्याख्या 'समत्व योग उच्यते' का सीधा अर्थ यही है कि 'समत्व को योग कहते है।' यहाँ पर योग साधन नही, साध्य है। इस प्रकार गीता योग शब्द की द्विविध व्याख्या प्रस्तुत करती है, एक साधन योग की और दूसरी साध्य-योग की।

१. अमरकोश, ३।३।२२, गीतारहस्य, पृ० ५६–५९
२-३. गीता (शा०) १०।७
४. योगसूत्र, १।२
५-६. गीतारहस्य, पृ० ५७

इसका अर्थ यह भी है कि योग दो प्रकार का है—१ साधन-योग और २. साध्य-योग। गीता जब ज्ञानयोग, कर्मयोग या भक्तियोग का विवेचन करती है तो ये उसकी साधन योग की व्याख्याएँ हैं। साधन अनेक हो सकते है ज्ञान, कर्म और भक्ति सभी साधन-योग है, साध्य-योग नही। लेकिन समत्वयोग साध्य-योग है। यह प्रश्न फिर भी उठाया जा सकता है कि समत्व योग को ही साध्य योग क्यो माना जाये, वह भी साधन योग क्यों नही हो सकता है? इसके लिए हमारे तर्क इस प्रकार है :—

१. ज्ञान, कर्म भक्ति और ध्यान सभी 'समत्व' के लिए होते है, क्योंकि यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या ध्यान स्वयं साध्य होते तो इनकी यथार्थता या शुभत्व स्वय इनमे ही निहित होता। लेकिन गीता यह बताती है कि बिना समत्व के ज्ञान यथार्थ ज्ञान नही बनता, जो समत्वदृष्टि रखता है वही ज्ञानी है[१]; बिना समत्व के कर्म अकर्म नही बनता। समत्व के अभाव मे कर्म का बन्धकत्व बना रहता है, लेकिन जो सिद्धि और असिद्धि में समत्व से युक्त होता है, उसके लिए कर्म बन्धक नही बनते[२]। इसी प्रकार वह भक्त भी सच्चा भक्त नही है, जिसमे समत्व का अभाव है। समत्वभाव से यथार्थ भक्ति की उपलब्धि होती है[३]।

समत्व के आदर्श से युक्त होने पर ही ज्ञान कर्म और भक्ति अपनी यथार्थता को पाते है। समत्व वह 'सार' है जिसकी उपस्थिति मे ज्ञान, कर्म और भक्ति का कोई मूल्य या अर्थ है। वस्तुत ज्ञान कर्म और भक्ति जबतक समत्व से युक्त नही होते है, उनमे समत्व की अवतारणा नही होती है, तबतक ज्ञान मात्र ज्ञान रहता है, वह ज्ञान-योग नही होता। कर्म मात्र कर्म रहता है, कर्मयोग नही बनता और भक्ति भी मात्र श्रद्धा या भक्ति ही रहती है, वह भक्तियोग नही बनती है क्योंकि इन सबमे हम मे निहित परमात्मा मे जोडने की सामर्थ्य नही आती। 'समत्व' ह वह शक्ति ह जिससे ज्ञान ज्ञानयोग के रूप मे, भक्ति भक्तियोग के रूप मे और कर्म कर्मयोग के रूप मे बदल जाता है। जैन परम्परा मे भी ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा) और चारित्र (कर्म) जबतक समत्व मे युक्त नही होते, सम्यक् नही बनते और जबतक ये सम्यक् नही बनते, तबतक मोक्षमार्ग के अंग नही होते है।

२. गीता के अनुसार मानव का साध्य परमात्मा की प्राप्ति है, और गीता का परमात्मा या ब्रह्म 'सम' है[४]। जिनका मन 'समभाव' मे स्थित है वे तो ससार मे रहते हुए भी मुक्त है क्योकि ब्रह्म भी निर्दोष एव सम है। वे उसी समत्व मे स्थित है जो ब्रह्म है और इसलिए वे ब्रह्म मे ही है।[५] इसे स्पष्ट रूप मे यों कह सकते है कि जो 'समत्व' मे स्थित है वे ब्रह्म मे स्थित है, क्योंकि 'सम' ही ब्रह्म है। गीता मे ईश्वर के

१. गीता, ५।१८ २. वही, ४।२२ ३. वही, ८।५४
४. वही, ५।१९, गीता (शां) ५।१८ ५. गीता, ५।१९

इस समत्व रूप का प्रतिपादन है। नवें अध्याय में कृष्ण कहते हैं कि मैं सभी प्राणियों में 'सम' के रूप मे स्थित हूँ[1]। तेरहवें अध्याय मे कहा है कि सम-रूप परमेश्वर सभी प्राणियों में स्थित है; प्राणियों के विनाश से भी उसका नाश नहीं होता है जो इस समत्व के रूप मे उसको देखता है वही वास्तविक ज्ञानी है, क्योंकि सभी में समरूप में स्थित परमेश्वर को समभाव से देखता हुआ वह अपने द्वारा अपना ही घात नही करता अर्थात् अपने समत्वमय या वीतराग स्वभाव को नष्ट नही होने देता और मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

३. गीता के छठे अध्याय में परमयोगी के स्वरूप के वर्णन मे यह धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है। गीताकार जब कभी ज्ञान, कर्म या भक्तियोग मे तुलना करता है तो वह उनकी तुलनात्मक श्रेष्ठता या कनिष्ठता का प्रतिपादन करता है, जैसे कर्म-संन्यास मे कर्मयोग श्रेष्ठ है[3], भक्तों मे ज्ञानी-भक्त मुझे प्रिय है[4]।

लेकिन वह न तो ज्ञानयोगी को परमयोगी कहता है, न कर्मयोगी को परमयोगी कहता है और न भक्त को ही परमयोगी कहता है, वरन् उसकी दृष्टि मे परमयोगी तो वह है जो सर्वत्र समत्व का दर्शन करता है[5]। गीताकार की दृष्टि मे योगी की पहचान तो समत्व ही है। वह कहता है 'योग मे युक्त आत्मा वही है जो समदर्शी है।'[6] समत्व की साधना करनेवाला योगी ही सच्चा योगी है। चाहे साधन के रूप मे ज्ञान, कर्म या भक्ति हो यदि उनमे समत्व नहीं आता, तो वे योग नही है।

४. गीता का यथार्थ योग समत्व-योग है, इस बात की सिद्धि का एक अन्य प्रमाण भी है। गीता के छठे अध्याय मे अर्जुन स्वयं ही यह कठिनाई उपस्थित करता है कि 'हे कृष्ण, आपने यह समत्वभाव (मन की समता) रूप योग कहा है, मुझे मन की चंचलता के कारण इस समत्वयोग का कोई स्थिर आधार दिखलाई नही देता है[7], अर्थात् मन की चंचलता के कारण इस समत्व को पाना सम्भव नही है। इससे यही सिद्ध होता है कि गीताकार का मूल उपदेश तो इसी समत्व-योग का है, लेकिन यह समत्व मन की चंचलता के कारण सहज नही होता है। अतः मन की चंचलता को समाप्त करने के लिए ज्ञान, कर्म, तप, ध्यान और भक्ति के साधन बताये गये हैं। आगे श्रीकृष्ण जब यह कहते हैं कि हे अर्जुन, तपस्वी, ज्ञानी, कर्मकाण्डी सभी से योगी अधिक है अतः तू योगी हो जा[8], तो यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि गीता-कार का उद्देश्य ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा तप की साधना का उपदेश देना मात्र नहीं

१. गीता, ९।२९ २. वही, १३।२७-२८ ३. वही, ५।२
४. वही, ७।१७ ५. वही, ६।३२ ६. वही, ६।२९
७. वही, ६।३३ ८. वही, ६।४६

है। यदि ज्ञान, कर्म, भक्ति या तप रूप साधना का प्रतिपादन करना ही गीताकार का अन्तिम लक्ष्य होता, तो अर्जुन को ज्ञानी, तपस्वी, कर्मयोगी या भक्त बनने का उपदेश दिया जाता, न कि योगी बनने का। दूसरे, यदि गीताकार का योग से तात्पर्य कर्म-कौशल या कर्मयोग, ज्ञानयोग, तप (ध्यान) योग अथवा भक्तियोग ही होता तो इनमें पारस्परिक तुलना होनी चाहिए थी; लेकिन इन सबसे भिन्न एवं श्रेष्ठ यह योग कौन-सा है जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन गीताकार करता है एवं जिसे अंगीकार करने का अर्जुन को उपदेश देता है ? वह योग समत्व-योग ही है, जिसके श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन किया गया है। समत्व-योग मे योग शब्द का अर्थ 'जोड़ना' नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्था में समत्व-योग भी साधन-योग होगा, साध्य-योग नहीं। ध्यान या समाधि भी समत्व-योग का साधन है।[1]

गीता में समत्व का अर्थ

गीता के समत्व-योग को समझने के लिए यह देखना होगा कि समत्व का गीता में क्या अर्थ है ? आचार्य शंकर लिखते हैं कि समत्व का अर्थ तुल्यता है, आत्मवत् दृष्टि है, जैसे मुझे सुख प्रिय एवं अनुकूल है और दुःख अप्रिय एवं प्रतिकूल है वैसे ही जगत् के समस्त प्राणियों को सुख अनुकूल है और दुःख अप्रिय एवं प्रतिकूल है। इस प्रकार जो सब प्राणियों में अपने ही समान सुख एवं दुःख को तुल्यभाव से अनुकूल एवं प्रतिकूल रूप में देखता है, किसी के भी प्रतिकूल आचरण नही करता, वही समदर्शी है। सभी प्राणियों के प्रति आत्मवत् दृष्टि रखना समत्व है।[2] लेकिन समत्व न केवल तुल्यदृष्टि या आत्मवत् दृष्टि है, वरन् मध्यस्थ दृष्टि, वीतराग दृष्टि एवं अनासक्त दृष्टि भी है। सुख-दुःख आदि जीवन के सभी अनुकूल और प्रतिकूल संयोगों में समभाव रखना, मान और अपमान, सिद्धि और असिद्धि मे मन का विचलित नही होना, शत्रु और मित्र दोनों में माध्यस्थवृत्ति, आसक्ति और राग-द्वेष का अभाव हो समत्वयोग है। वैचारिक दृष्टि से पक्षाग्रह एवं संकल्प-विकल्पों से मानस का मुक्त होना ही समत्व है।

गीता में समत्व-योग की शिक्षा

गीता में अनेक स्थलों पर समत्व-योग की शिक्षा दी गयी है। श्रीकृष्ण कहते हैं, हे अर्जुन, जो सुख-दुःख मे समभाव रखता है उस धीर (समभावी) व्यक्ति को इन्द्रियों के सुख-दुःखादि विषय व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष या अमृतत्व का अधिकारी होता है।[3] सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि में समत्वभाव धारण कर, फिर यदि तू युद्ध करेगा तो पाप नहीं लगेगा, क्योंकि जो समत्व से युक्त होता है उससे कोई पाप ही नहीं होता है।[4] हे अर्जुन, आसक्ति का त्याग कर, सिद्धि एवं असिद्धि में समभाव

१. गीता २।४३ २. गीता (शां०), ६।३२ ३. गीता २।१५
४. वही, २।३८, तुलना कीजिए—आचारांग, १।३।२

रखकर, समत्व से युक्त हो; तू कर्मों का आचरण कर, क्योंकि यह समत्व ही योग है।[१] समत्व-बुद्धियोग से सकाम-कर्म अति तुच्छ है, इसलिए हे अर्जुन, समत्व-बुद्धियोग का आश्रय ले क्योंकि फल की वासना अर्थात् आसक्ति रखनेवाले अत्यन्त दीन है।[२] समत्व-बुद्धि से युक्त पुरुष पाप और पुण्य दोनों से अलिप्त रहता है (अर्थात् समभाव होनेपर कर्म बन्धन कारक नही होते)। इसलिए समत्व-बुद्धियोग के लिए ही चेष्टा कर, समत्व बुद्धिरूप योग ही कर्म-बन्धन से छूटने का उपाय है, पाप-पुण्य से बचकर अनासक्त एवं साम्यबुद्धि से कर्म करने की कुशलता ही योग है।[3] जो स्वाभाविक उपलब्धियों में सन्तुष्ट है, राग-द्वेष एव ईर्ष्या से रहित निर्द्वन्द्व एवं सिद्धि-असिद्धि मे समभाव मे युक्त है, वह जीवन के सामान्य व्यापारो को करते हुए भी बन्धन मे नही आता है।[४] हे अर्जुन, अनेक प्रकार के सिद्धान्तो से विचलित तेरी बुद्धि जब समाधियुक्त हो निश्चल एवं स्थिर हो जायेगी, तब तू समत्वयोग को प्राप्त हो जायेगा।[५] जो भी प्राणी अपनी वासनात्मक आत्मा को जीतकर शीत और उष्ण, मान और अपमान, सुख और दुःख जैसी विरोधी स्थितियो मे भी सदैव प्रशान्त रहता है अर्थात् समभाव रखता है वह परमात्मा मे स्थित है।[६] जिसकी आत्मा तत्त्वज्ञान एव आत्मज्ञान से तृप्त है जो अनासक्त एवं संयमी है, जो लौह एवं कांचन दोनो म समानभाव रखता है, वही योगी योग (समत्व-योग) से युक्त है, ऐसा कहा जाता है।[७] जो व्यक्ति सुहृदय, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, द्वेषी एवं बन्धु म तथा धर्मात्मा एवं पापियो मे समभाव रखता है, वही अति श्रेष्ठ है अथवा वही मुक्ति को प्राप्त करता है।[८] जो सभी प्राणियों को अपनी आत्मा मे एवं अपनी आत्मा को सभी प्राणियो में देखता है अर्थात् सभी को समभाव से देखता है वही युक्तात्मा है।[९] जो सुख-दुःखादि अवस्थाओं मे सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समभाव मे देखता है, वही परमयोगी है।[१०] जो अपनी इन्द्रियो के समूह को भलीभांति संयमित करके सर्वत्र समत्वबुद्धि मे सभी प्राणियों के कल्याण मे निरत है, वह परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है।[११] जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मो के फल का त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मुझे प्रिय है।[१२] जो पुरुष शत्रु-मित्र मे और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वो मे सम है और सब संसार मे आसक्ति से रहित है[१३] तथा जो निन्दा-स्तुति को

१. गीता २।४८	२. वही, २।४९	३. वही, २।५०
४. वही, ४।२३	५ वही, २।५३	६. वही, ६।७
७. वही, ६।८	८. वही, ६।९ (पाठान्तर-विमुच्यते)	९. वही, ६।२९
१०. वही, ६।३२	११. वही, १२।४	१२. वही, १२।१७
१३. वही ६।७		

समान समझने वाला और मननशील है, अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किस प्रकार से भी मात्र शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला, भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।[१] इस प्रकार जानकर, जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में नाशरहित परमेश्वर को समभाव से स्थित देखता है, वह वही देखता है।[२] क्योंकि वह पुरुष सबमें समभाव से स्थित हुए परमेश्वर को देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नही करता है, अर्थात् शरीर का नाश होने से अपनी आत्मा का नाश नही मानता है, इससे वह परमगति को प्राप्त होता है।[३]

समत्व के अभाव में ज्ञान यथार्थ ज्ञान नही है चाहे वह ज्ञान कितना ही विशाल क्यो न हो। वह ज्ञान योग नही है। समत्व-दर्शन यथार्थ ज्ञान का अनिवार्य अंग है। समदर्शी ही सच्चा पण्डित या ज्ञानी है।[४] ज्ञान की सार्थकता और ज्ञान का अन्तिम लक्ष्य समत्व-दर्शन है।[५] समत्वमय ब्रह्म या ईश्वर जो हम सब मे निहित है, उसका बोध कराना ही ज्ञान और दर्शन की सार्थकता है। इसी प्रकार समत्व भावना के उदय से भक्ति का सच्चा स्वरूप प्रगट होता है। जो समदर्शी होता है वह परम भक्ति को प्राप्त करता है। गीता के अठारहवे अध्याय में कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि जो समत्वभाव मे स्थित होता है वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त करता है।[६] बारहवें अध्याय में सच्चे भक्त का लक्षण भी समत्व वृत्ति का उदय माना गया है।[७] जब समत्वभाव का उदय होता है तभी व्यक्ति का कर्म अकर्म बनता है। समत्व-वृत्ति से युक्त होकर किया गया कोई भी आचरण बन्धनकारी नही होता, उस आचरण से व्यक्ति पापको प्राप्त नही होता।[८] इस प्रकार ध्यान-योग का परम साध्य भी वैचारिक समत्व है। समाधि की एक परिभाषा यह भी हो सकती है कि जिसके द्वारा चित्त का समत्व प्राप्त किया जाता है, वह समाधि है।[९]

ज्ञान, कर्म, भक्ति और ध्यान सभी समत्व को प्राप्त करने के लिए है। जब वे समत्व से युक्त हो जाते है तब अपने सच्चे स्वरूपको प्रकट करते है। ज्ञान यथार्थ ज्ञान बन जाता है, भक्ति परम भक्ति हो जाती है, कर्म अकर्म हो जाता है और ध्यान निर्विकल्प समाधि का लाभ कर लेता है।

५. समत्वयोग का व्यवहार पक्ष

समत्वयोग का तात्पर्य चेतना का संघर्ष या द्वन्द्व से ऊपर उठ जाना है। वह

१. गीता १२।१९ २. वही, १३।२७ ३. वही, १३।२८
४. वही, ५।१८ ५. वही, १३।२७-२८ ६. वही, १८।५४
७. वही, १२।१७-१९ ८. वही, २।३८ ९. वही, २।५३

निराकुल, निर्द्वन्द्व और निर्विकल्प दशा का सूचक है। समत्व-योग जीवन के विविध पक्षों में एक ऐसा सांग सन्तुलन है जिसमे न केवल चैतसिक एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्ष समाप्त होते हैं, वरन् सामाजिक जीवन के संघर्ष भी समाप्त हो जाते है, शर्त यह है कि समाज के सभी सदस्य उसकी साधना मे प्रयत्नशील हो।

समत्वयोग में इन्द्रियाँ अपना कार्य तो करती है, लेकिन उनमे भोगासक्ति नही होती है और न इन्द्रियों के विषयो की अनुभूति चेतना मे राग और द्वेष को जन्म देती है। चिन्तन तो होता है, किन्तु उससे पक्षवाद और वैचारिक दुराग्रहों का निर्माण नही होता। मन अपना कार्य तो करता है, लेकिन वह चेतना के सम्मुख जिसे प्रस्तुत करता है, उसे रंगीन नही बनाता है। आत्मा विशुद्ध द्रष्टा होता है। जीवन के सभी पक्ष अपना अपना कार्य विशुद्ध रूप मे बिना किसी संघर्ष के करते हैं।

मनुष्य का अपने परिवेश के साथ जो संघर्ष है, उसके कारण के रूप मे जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति इतनी प्रमुख नही है जितनी कि व्यक्ति की भोगासक्ति। संघर्ष की तीव्रता आसक्ति की तीव्रता के साथ बढती जाती है। प्रकृत-जीवन जीना न तो इतना जटिल है और न इतना संघर्षपूर्ण ही। व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष जो उसकी विभिन्न आकांक्षाओं और वासनाओं के कारण होता है उसके पीछे भी व्यक्ति की तृष्णा या आसक्ति ही प्रमुख है।

इसी प्रकार वैचारिक जगत् का सारा संघर्ष आग्रह, पक्ष या दृष्टि के कारण है। वाद, पक्ष या दृष्टि एक ओर सत्य को सीमित करती है, दूसरी ओर आग्रह मे सत्य के अन्य अनन्त पहलू आवृत रह जाते है। भोगासक्ति स्वार्थों की संकीर्णता को जन्म देती है और आग्रहवृत्ति वैचारिक संकीर्णता को जन्म देती है। संकीर्णता चाहे वह हितों की हो या विचारों की, संघर्ष को जन्म देती है। समस्त सामाजिक संघर्षों के मूल में यही हितों की या विचारों की संकीणता काम कर रही है।

जब आसक्ति, लोभ या राग के रूप मे पक्ष उपस्थित होता है तो द्वेष या घृणा के रूप मे प्रतिपक्ष भी उपस्थित हो जाता है। पक्ष और प्रतिपक्ष की यह उपस्थिति आंतरिक संघर्ष का कारण होती है। समत्वयोग राग और द्वेष के द्वन्द्व से ऊपर उठाकर वीतरागता की ओर ले जाता है। वह आन्तरिक सन्तुलन है। व्यक्ति के लिए यह आन्तरिक सन्तुलन ही प्रमुख है। आन्तरिक सन्तुलन की उपस्थिति मे बाह्य जागतिक विक्षोभ विचलित नही कर सकते है।

जब व्यक्ति आन्तरिक सन्तुलन से युक्त होता है तो उसके आचार-विचार और व्यवहार मे भी वह सन्तुलन प्रकट हो जाता है। उसका कोई भी व्यवहार या आचार बाह्य असन्तुलन का कारण नही बनता है। आचार और विचार हमारे मन के बाह्य प्रकटन है, व्यक्ति के मानस का बाह्य जगत् में प्रतिबिम्ब है। जिसमे आन्तरिक सन्तुलन या समत्व है, उसके आचार और विचार भी समत्वपूर्ण होते है। इतना ही नहीं,

वह विश्व-व्यवहार मे एक माग सन्तुलन स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील होता है, उमका मन्तुलित व्यक्तित्व विश्व-व्यवहार को प्रभावित भी करता है एवं उसके द्वारा सामाजिक जीवन का निर्माण भी हो मकता है। फिर भी सामाजिक जीवन मे ऐमा व्यक्तित्व एक मात्र कारक नही होता अत उसके प्रयास सदैव ही मफल हों यह अनिवार्य नही है। सामाजिक ममत्व की मंस्थापना ममत्वयोग का माध्य तो है, लेकिन उसकी मिद्धि वैयक्तिक ममत्व पर नही, वरन् ममाज के सभी सदस्यों के सामूहिक प्रयत्नो पर निर्भर है। फिर भी ममत्व योगी के व्यवहार मे न तो मामाजिक मंघर्ष उत्पन्न होता है और न बाह्य मघर्षो, क्षुब्धताओं और कठिनाईयो से वह अपन मानस को विचलित होने देता है। समत्वयोग का मूल केन्द्र आन्तरिक सतुलन या समत्व है, जो कि राग और द्वेष के प्रहाण मे उपलब्ध होता है।

समत्व योग भारतीय माधना का केन्द्रीय तत्त्व है लेकिन इम समत्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है यह विचारणीय है। मर्वप्रथम तो जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन समत्व की उपलब्धि के लिए त्रिविध साधना पथ का प्रतिपादन करते है। चेतना के ज्ञान, भाव और सकल्प पक्ष को समत्त्व से युक्त या सम्यक् बनाने हेतु जहाँ जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का प्रतिपादन करता है वही बौद्ध दर्शन प्रज्ञा, शील और ममाधि का और गीता ज्ञानयोग कर्मयोग और भक्तियोग का प्रतिपादन करती ह। केवल इतना ही नही, अपितु इन आचार दर्शनो ने हमारे व्यावहारिक और सामाजिक जीवन की समता के लिये भी कुछ दिशा निर्देशक सूत्र प्रस्तुत किये है। हमारे व्यावहारिक जीवन की विषमताएँ तीन है—१. आसक्ति २. आग्रह और ३. अधिकार भावना। यही वैयक्तिक जीवन की विषमताएँ सामाजिक जीवन मे वर्ग-विद्वेष शोषकवृत्ति और धार्मिक एव राजनैतिक मतान्धता को जन्म देती है और परिणाम स्वरूप हिंसा, युद्ध और वर्ग सघर्ष पनपते है। इन विषमताओ के कारण उद्भूत सघर्षो को हम चार भागो मे विभाजित कर सकते है—

(१) व्यक्ति का आन्तरिक संघर्ष—जो आदर्श और वामना के मध्य है, यह इच्छाओं का सघर्ष है। इसे चैतसिक विषमता कहा जा सकता है। इमका मम्बन्ध व्यक्ति स्वयं से है।

(२) व्यक्ति और वातावरण का संघर्ष—व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताओं और अन्य इच्छाओ की पूर्ति बाह्य जगत् मे करता है। अनन्त इच्छा और सीमित पूर्ति के साधन इस मघर्ष को जन्म देते है। यह आर्थिक सघर्ष अथवा मनो-भौतिक संघर्ष ह।

(३) व्यक्ति और समाज का मघर्ष—व्यक्ति अपने अहंकार की तुष्टि समाज मे करता है, उस अहंकार को पोषण देने के लिए अनेक मिथ्या विश्वासो का समाज मे सृजन करता है। यहाँ वैचारिक संघर्ष का जन्म होता है। ऊँच-नीच का भाव, धार्मिक मतान्धता और विभिन्न वाद उसी के परिणाम है।

(४) ममाज और समाज का सघर्ष—जब व्यक्ति सामान्य हितों और सामान्य वैचारिक विश्वासों के आधार पर समूह या गुट बनाता है तो सामाजिक संघर्षों का उदय होता है। इमका आधार आर्थिक और वैचारिक दोनो ही हो सकता है।

समत्वयोग का व्यवहार पक्ष और जैन दृष्टि

जैसा कि हमने पूर्व मे देखा कि इन समग्र संघर्षों का मूल हेतु आसक्ति, आग्रह और संग्रह वृत्ति मे निहित है। अत जैन दार्शनिकों ने उनके निराकरण के हेतु अनासक्ति, अनाग्रह, अहिंसा तथा असंग्रह के मिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वस्तुतः व्यावहारिक दृष्टि से चित्तवृत्ति का समत्व, अनासक्ति या वीतरागता मे, बुद्धि का समत्व अनाग्रह या अनेकान्त मे और आचरण का समत्व अहिंसा एव अपरिग्रह मे निहित है। अनासक्ति, अनेकान्त, अहिसा और अपरिग्रह के मिद्धान्त ही जैनदर्शन मे समत्वयोग की साधना के चार आधार स्तम्भ है। जैन-दर्शन के समत्वयोग की साधना को व्यावहारिक दृष्टि से निम्न प्रकार प्रस्तुत किया जा मकता है—

समत्वयोग के निष्ठासूत्र

(अ) संघर्ष के निराकरण का प्रयत्न हो जीवन के विकास का सच्चा अर्थ—समत्वयोग का पहला मूत्र है मघर्ष नही, सघर्ष या तनाव को समाप्त करना ही वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन को प्रगति का मच्चा स्वरूप है। अस्तित्व के लिए संघर्ष के स्थान पर जैन-दर्शन सघर्ष के निराकरण मे अस्तित्व का मूत्र प्रस्तुत करता है। जीवन मघर्ष मे नही वरन् उमके निराकरण मे है। जैन-दर्शन न तो इम सिद्धान्त में आस्था रखता है कि जीवन के लिए सघर्ष आवश्यक है और न यह मानता है कि "जीओ और जीने दो" का नारा ही पर्याप्त है। उमका मिद्धान्त है जीवन के लिए जीवन का विनाश नही, वरन् जीवन के द्वारा जीवन का विकाम या कल्याण (परस्परोपग्रहो जीवानाम्—तत्त्वार्थसूत्र) जीवन का नियम सघर्ष का नियम नही वरन् परस्पर सहकार का नियम है।

(ब) सभी मनुष्यों की मौलिक समानता पर आस्था—आत्मा की दृष्टि से सभी प्राणी ममान है, यह जैनदर्शन की प्रमुख मान्यता है। इसके माथ ही जैन आचार्यों ने मानव जाति की एकता को भी स्वीकार किया है। वर्ण, जाति, सम्प्रदाय और आर्थिक आधारों पर मनुष्यो मे भेद करना मनुष्यो की मौलिक ममता को दृष्टि मे ओझल करना है। सभी मनुष्य, मनुष्य-समाज मे ममान अधिकारो मे युक्त है। यह निष्ठा साम्ययोग के सामाजिक सन्दर्भ का आवश्यक अंग है। इसके मूल मे सभी मनुष्यो को समान अधिकार मे युक्त समझने की धारणा रही हुई है। यह सामाजिक न्याय का आधार है जो सामाजिक सघर्ष को समाप्त करता है।

समत्वयोग के क्रियान्वयन के चार सूत्र—

(१) वृत्ति में अनासक्ति:—अनासक्त जीवन-दृष्टि का निर्माण यह समत्वयोग की

साधना का प्रथम सूत्र है। अहंकार, ममत्व और तृष्णा का विसर्जन समत्व के सर्जन के लिये आवश्यक है। अनासक्त वृत्ति में ममत्व और अहंकार दोनों का पूर्ण समर्पण आवश्यक है। जब तक अहम् और ममत्व बना रहेगा, समत्व की उपलब्धि संभव नही होगी, क्योंकि राग के साथ द्वेष अपरिहार्य रूप से जुडा हुआ है। जितना अहम् और ममत्व का विसर्जन होगा उतना ही समत्व का सर्जन होगा। अनासक्ति-चैतसिक संघर्ष का निराकरण करती है एवं चैतसिक समत्व का आधार है। बिना चैतसिक समत्व के सामाजिक जीवन मे साम्य की उद्भावना नही हो सकती।

(२) **विचार में अनाग्रह** :—जैनदर्शन के अनुसार आग्रह एकांत है और इसलिये मिथ्यात्व भी है। वैचारिक अनाग्रह समत्वयोग की एक अनिवार्यता है। आग्रह वैचारिक हिंसा भी है, वह दूसरे के सत्य को अस्वीकार करता है तथा समग्र वैचारिक सम्प्रदायों एवं वादों का निर्माण कर वैचारिक संघर्ष की भूमिका तैयार करता है। अत वैचारिक समन्वय और वैचारिक अनाग्रह समत्वयोग का एक अपरिहार्य अंग है। यह वैचारिक संघर्ष को समाप्त करता है। जैनदर्शन इसे अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में प्रस्तुत करता है।

(३) **वैयक्तिक जीवन में असंग्रह** :—अनासक्त वृत्ति को व्यावहारिक जीवन मे उतारने के लिये असग्रह आवश्यक है। यह वैयक्तिक अनासक्ति का समाज-जीवन मे व्यक्ति के द्वारा दिया गया प्रमाण है और सामाजिक समता के निर्माण की आवश्यक कडी भी है। सामाजिक जीवन मे आर्थिक विषमता का निराकरण असंग्रह की वैयक्तिक साधना के माध्यम से ही सम्भव है।

(४) **समाजिक आचरण में अहिंसा** :—जब पारस्परिक व्यवहार अहिंसा पर अधिष्ठित होगा तभी सामाजिक जीवन मे शाति और साम्य सम्भव होगे। जैनदर्शन के अनुसार अहिंसा का मूल आधार आत्मवत् दृष्टि है और अहिंसा की व्यवहार्यता अनासक्ति पर निर्भर है। वृत्ति मे जितनी अनासक्ति होगी, व्यवहार में उतनी ही अहिंसा प्रगट होगी। जैन आचार्यों की दृष्टि मे अहिंसा केवल निषेधात्मक नही है, वरन् वह विधायक भी है। मैत्री और करुणा उसके विधायक पहलू है। अहिंसा सामाजिक संघर्ष का निराकरण करती है।

इस प्रकार जैनदर्शन के अनुसार वृत्ति मे अनासक्ति, विचार मे अनेकान्त, अनाग्रह, वैयक्तिक जीवन मे असंग्रह और सामाजिक जीवन में अहिंसा यही समत्वयोग की साधना का व्यवहारिक पक्ष है।

जैन दर्शन मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधना मार्ग प्रस्तुत करता है। तत्त्वार्थसूत्र के प्रारम्भ मे ही कहा है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।[1] उत्तराध्ययनसूत्र मे सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र और सम्यक तप ऐसे चतुर्विध मोक्ष मार्ग का भी विधान है।[2] जैन आचार्यो ने तप का अन्तर्भाव चारित्र मे किया है और इसलिए परवर्ती साहित्य मे इसी त्रिविध साधना मार्ग का विधान मिलता है। उत्तराध्ययन मे भी ज्ञान दर्शन और चारित्र के रूप मे त्रिविध साधना पथ का विधान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार एव नियमसार मे, आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र मे त्रिविध साधना पथ का विधान किया है।

त्रिविध साधना-मार्ग ही क्यों ?—यह प्रश्न उठ सकता है कि त्रिविध साधना मार्ग का ही विधान क्यो किया गया है ? वस्तुतः त्रिविध साधना मार्ग के विधान मे पूर्ववर्ती ऋषियो एव आचार्यो की गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पक्ष माने गये है—ज्ञान भाव और सकल्प। नैतिक जीवन का साध्य चेतना के इन तीनो पक्षो का विकास माना गया है। अत यह आवश्यक ही था कि इन तीनो पक्षो के विकास के लिए त्रिविध साधना-पथ का विधान किया जाय। चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यक् बनाने के लिए या उसके सही विकास के लिए सम्यग्दर्शन या श्रद्धा की साधना का विधान किया गया। इसी प्रकार ज्ञानात्मक पक्ष के लिए ज्ञान का और सकल्पात्मक पक्ष के लिए सम्यक्चारित्र का विधान है। इस प्रकार हम देखते है कि त्रिविध साधना-पथ के विधान के पीछे एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि रही है।

बौद्ध दर्शन में त्रिविध साधना मार्ग—बौद्ध दर्शन मे भी त्रिविध साधना मार्ग का विधान है। प्राचीन बौद्ध ग्रथो मे इसी का विधान अधिक है। वैसे बुद्ध ने अष्टाग मार्ग का भी प्रतिपादन किया है। लेकिन यह अष्टाग मार्ग भी त्रिविध साधना मार्ग में ही अन्तर्भूत है। बौद्ध दर्शन मे त्रिविध साधना मार्ग के रूप मे शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है। कही कही शील, समाधि और प्रज्ञा के स्थान पर वीर्य, श्रद्धा और प्रज्ञा का भी विधान है।[3] वस्तुतः वीर्य शील का और श्रद्धा समाधि की प्रतीक है।

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १।१ २. उत्तराध्ययन २८।२

३. (अ) अत्थि सद्धा ततो विरियं पञ्ञा च मम विज्जति।—सुत्तनिपात २८।८

(ब) सब्बदा सील सम्पन्नो (इति भगवा) पञ्ञवा सुसमाहितो।

अज्झत्तचिन्ती सतिमा ओघं तरति दुत्तरं॥—सुत्तनिपात ९।२२

श्रद्धा और समाधि दोनों समान इसलिए हैं कि दोनों मे चित्त विकल्प नही होते हैं। समाधि या श्रद्धा को सम्यक् दर्शन से और प्रज्ञा को सम्यक्-ज्ञान से तुलनीय माना जा सकता है। बौद्ध दर्शन का अष्टाग मार्ग सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वाणी, सम्यक्-कर्मान्त, सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि है। इनमें सम्यक्-वाचा, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यक्-आजीव इन तीनों का अन्तर्भाव शील मे, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति और सम्यक्-समाधि इन तीनों का अन्तर्भाव चित्त, श्रद्धा या समाधि मे और सम्यक्-संकल्प और सम्यक्-दृष्टि इन दो का अन्तर्भाव प्रज्ञा मे होता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन मे भी मौलिक रूप से त्रिविध साधना मार्ग ही प्ररूपित है।

गीता का त्रिविध साधना-मार्ग—गीता मे भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप मे त्रिविध साधना-मार्ग का उल्लेख है। इन्हे ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग के नाम से भी अभिहित किया गया है। यद्यपि गीता मे ध्यानयोग का भी उल्लेख है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में तप का स्वतन्त्र विवेचन होते हुए भी उसे सम्यक्चारित्र के अन्तर्भूत लिया गया है उसी प्रकार गीता मे भी ध्यानयोग को कर्मयोग के अधीन माना जा सकता है। गीता मे प्रसगान्तर से मोक्ष की उपलब्धि के साधन के रूप मे प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।[1] इनमे प्रणिपात श्रद्धा या भक्ति का, परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। योग-दर्शन मे भी ज्ञानयोग, भक्तियोग और क्रियायोग के रूप मे इसी त्रिविध साधना मार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। वैदिक परम्परा मे इस त्रिविध साधना मार्ग के प्रस्तुतीकरण के पीछे एक दार्शनिक दृष्टि रही है। उसमे परमसत्ता या ब्रह्म के तीन पक्ष सत्य, सुन्दर और शिव माने गये हैं। ब्रह्म जो कि नैतिक जीवन का साध्य है इन तीन पक्षों से युक्त है और इन तीनो की उपलब्धि के लिए ही त्रिविध साधना-मार्ग का विधान किया गया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुन्दर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माने गये हैं। उपनिषदों मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप मे भी त्रिविध साधना-मार्ग निरूपित है। गहराई से देखे तो श्रवण श्रद्धा, मनन ज्ञान और निदिध्यासन कर्म के अन्तर्गत् आ जाते है। इस प्रकार वैदिक परम्परा मे भी त्रिविध साधना-मार्ग का विधान है।

पाश्चात्य चिन्तन में त्रिविध साधना-पथ—पाश्चात्य परम्परा मे तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं—१. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकार करो (Accept Thyself) और ३ स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself).[2] पाश्चात्य चिन्तन के तीन नैतिक आदेश ज्ञान दर्शन और चारित्र के समकक्ष ही हैं।

१. गीता ४।३४, ४।३९

२. साइकोलाजी एन्ड मारल्स, पृ० १८०

आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्म-स्वीकृति मे श्रद्धा का तत्त्व और आत्म-निर्माण मे चारित्र का तत्त्व स्वीकृत ही है।

इस प्रकार हम देखते है कि त्रिविध साधना-मार्ग के विधान मे जैन, बौद्ध और वैदिक परम्परायें ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी एकमत हैं। तुलनात्मक रूप मे उन्हे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

जैन-दर्शन	बौद्ध-दर्शन	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य-दर्शन
सम्यग्ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान, परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यग्दर्शन	श्रद्धा, चित्त, समाधि	श्रद्धा, प्रणिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक्चारित्र	शील, वीर्य	कर्म, सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

साधन-त्रय का परस्पर सम्बन्ध—जैन आचार्यो ने नैतिक साधना के लिए इन तीनों साधना-मार्गो को एक साथ स्वीकार किया है। उनके अनुसार नैतिक साधना की पूर्णता त्रिविध साधनापथ के समग्र परिपालन मे ही सम्भव है। जैन-विचारक तीनों के समवेत मे ही मुक्ति मानते है। उनके अनुसार न अकेला ज्ञान, न अकेला कर्म और न अकेली भक्ति मुक्ति देने मे समर्थ है। जब कि कुछ भारतीय विचारकों ने इनमे से किसी एक को ही मोक्ष-प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शकर केवल ज्ञान से और रामानुज केवल भक्ति से मुक्ति की सभावना को स्वीकार करते है, लेकिन जैन-दार्शनिक ऐसी किसी एकान्तवादिता मे नही पड़ते है। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना मे ही मोक्ष-सिद्धि सभव है। इनमे से किसी एक के अभाव मे मोक्ष या नैतिक साध्य की प्राप्ति सम्भव नही। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और जिसमे ज्ञान नही है उसका आचरण सम्यक् नही होता और सम्यक् आचरण के अभाव मे आसक्ति से मुक्त नही हुआ जाता है और जो आसक्ति से मुक्त नही उसका निर्वाण या मोक्ष नहीं होता।[1] इस प्रकार शास्त्रकार यह स्पष्ट कर देता है कि निर्वाण या नैतिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए इन तीनो की एक साथ आवश्यकता है। वस्तुत नैतिक साध्य के रूप मे जिस पूर्णता को स्वीकार किया गया है वह चेतना के किसी एक पक्ष की पूर्णता नहीं, वरन् तीनों पक्षों की पूर्णता है और इसके लिए साधना के तीनों पक्ष आवश्यक है।

यद्यपि नैतिक साधना के लिए सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र या शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा श्रद्धा, ज्ञान और कर्म तीनो आवश्यक है, लेकिन इनमे साधना की दृष्टि से एक पूर्वापरता का क्रम भी है।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध—ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा मे काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक

१. उत्तराध्ययन, २८।३०

मानते है तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनो का यौगपद्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। यद्यपि आचार-मीमासा की दृष्टि मे दर्शन की प्राथमिकता ही प्रबल रही है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है कि दर्शन के बिना ज्ञान नही होता।[१] इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गयी है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वाति ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चारित्र के पहले स्थान दिया है।[२] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शनपाहुड में कहते है कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शन-प्रधान है।[३]

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी है जिनमे ज्ञान को प्रथम माना गया है। उत्तराध्ययनसूत्र मे, उसी अध्याय मे मोक्ष-मार्ग की विवेचना मे जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है।[४] वस्तुतः साधनात्मक जीवन की दृष्टि से भी ज्ञान और दर्शन में किसे प्राथमिक माना जाय, यह निर्णय करना सहज नहीं है। इस विवाद के मूल मे यह तथ्य है कि श्रद्धावादी दृष्टिकोण सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देता है, जब कि ज्ञानवादी दृष्टिकोण श्रद्धा के सम्यक् होने के लिए ज्ञान की प्राथमिकता को स्वीकार करता है। वस्तुतः इस विवाद मे कोई एकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा। यहाँ समन्वय-वादी दृष्टिकोण ही संगत होगा। नवतत्त्वप्रकरण मे ऐसा ही समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है जहाँ दोनो को एकदूसरे का पूर्वापर बताया है। कहा है कि जो जीवादि नव पदार्थों को यथार्थ रूप से जानता है उसे सम्यक्त्व होता है। इस प्रकार ज्ञान को दर्शन के पूर्व बताया गया है, लेकिन अगली पंक्ति मे ही ज्ञानाभाव मे केवल श्रद्धा से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति मान ली गयी है और कहा गया है कि जो वस्तुतत्त्व को स्वतः नही जानता हुआ भी उसके प्रति भाव से श्रद्धा करता है उसे सम्यक्त्व हो जाता है।[५]

हम अपने दृष्टिकोण से इनमे से किसे प्रथम स्थान दे इसका निर्णय करने के पूर्व दर्शन शब्द के अर्थ का निश्चय कर लेना जरूरी है। दर्शन शब्द के दो अर्थ है— १. यथार्थ दृष्टिकोण और २. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते है तो हमे साधना-मार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है तो न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव मे यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हो, तो भी वे सम्यक् नही कहे जा सकते। वह तो सयोगिक प्रसंग मात्र है। ऐसा साधक दिग्भ्रांत भी हो सकता है जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और उसका आचरण करेगा ? दूसरी ओर यदि हम सम्यग्दर्शन का श्रद्धापरक

---

१. उत्तराध्ययन २८।३० २. तत्त्वार्थसूत्र, १।१
३. दर्शनपाहुड, २ ४. उत्तराध्ययन, २८।२
५. नवतत्त्वप्रकरण, १ उद्धृत—आत्मसाधना संग्रह, पृ० १५१

अर्थ लेते हैं तो उसका स्थान ज्ञान के पश्चात् ही होगा। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय उसे ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जाने और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करे।[1] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसमें जो स्थायित्व होता है वह ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा में नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की सम्भावना हो सकती है। ऐसी श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा नहीं वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवं तार्किक परीक्षण के पश्चात् ही हो सकती है। यद्यपि साधना के लिए, आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञान-प्रसूत होनी चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करे, तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करे।[2]

इस प्रकार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यग्दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए, जब कि श्रद्धापरक अर्थ में उसे ज्ञान के पश्चात् स्थान देना चाहिए।

बौद्ध-विचारणा में ज्ञान और श्रद्धा का सम्बन्ध—बौद्ध-विचारणा ने सम्यग्दर्शन या सम्यग्दृष्टि शब्द का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ स्वीकारा है और अष्टांगिक साधना-मार्ग में उसे प्रथम स्थान दिया है। यद्यपि अष्टांग साधना-मार्ग में ज्ञान का कोई स्वतन्त्र स्थान नहीं है, तथापि वह सम्यग्दृष्टि में ही समाहित है। आंशिक रूप में उसे सम्यक् स्मृति के अधीन भी माना जा सकता है। तथापि बौद्ध साधना के त्रिविध मार्ग शील, समाधि, प्रज्ञा में ज्ञान को स्वतन्त्र स्थान भी प्रदान करते हैं। चाहे बुद्ध ने आत्मदीप एवं आत्मशरण के स्वर्णिम सूत्र का उद्घोष कर श्रद्धा की अपेक्षा स्वावलम्बन का पाठ पढ़ाया हो, फिर भी बौद्ध आचार-दर्शन में श्रद्धा का महत्वपूर्ण स्थान सभी युगों में रहा है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रति बुद्ध स्वयं कहते हैं कि मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[3] मनुष्य श्रद्धा से इस संसाररूप बाढ़ को पार करता है।[4] इतना ही नहीं, ज्ञान की उपलब्धि के साधन के रूप में श्रद्धा को स्वीकार करके बुद्ध गीता की विचारणा के अत्यधिक निकट आ जाते हैं। गीता के समान ही बुद्ध सुत्तनिपात में आलवक यक्ष से कहते हैं, "निर्वाण की ओर ले जानेवाले अर्हतों के धर्म में श्रद्धा रखनेवाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा प्राप्त करता है।"[5] 'श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं' और 'सद्दहानो लभते पञ्ञं' का शब्द-साम्य दोनों आचार-दर्शनों में निकटता देखनेवाले विद्वानों के लिए विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

लेकिन यदि हम श्रद्धा को आस्था के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो बुद्ध की दृष्टि में

१. उत्तराध्ययन, २८।३५
२. वही, २३।२५
३. सुत्तनिपात, १०।२
४. वही, १०।४
५. वही, १०।६

प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। संयुत्तनिकाय में बुद्ध कहते है कि श्रद्धा पुरुष की साथी है और प्रज्ञा उस पर नियन्त्रण करती है।[1] इस प्रकार श्रद्धा पर विवेक का स्थान स्वीकार किया गया है। बुद्ध कहते है, श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।[2] इस प्रकार बुद्ध की दृष्टि मे ज्ञान का महत्त्व अधिक सिद्ध होता है। यद्यपि बुद्ध श्रद्धा के महत्त्व को और ज्ञान-प्राप्ति के लिए उसकी आवश्यकता को स्वीकार करते है, तथापि जहाँ श्रद्धा और ज्ञान मे किसी की श्रेष्ठता का प्रश्न आता है वे ज्ञान (प्रज्ञा) की श्रेष्ठता को स्वीकार करते है। बौद्ध-साहित्य मे बहुचर्चित कालामसुत्त भी इसका प्रमाण है। कालामों को उपदेश देते हुए बुद्ध स्वविवेक को महत्त्वपूर्ण स्थान देते है। वे कहते है 'हे कालामों, तुम किसी बात को इसलिए स्वीकार मत करो कि यह बात अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात परम्परागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात इसी प्रकार कही गई है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्म-ग्रथ (पिटक) के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्क-सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह न्याय (शास्त्र) सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि इसका आकार-प्रकार (कथन का ढग) सुन्दर है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे मत के अनुकूल है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व आकर्षक है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालामो, (यदि) तुम जब आत्मानुभव से अपने आप ही यह जानो कि ये बाते अकुशल है, ये बाते सदोष है ये बाते विज्ञ पुरुषो द्वारा निन्दित है, इन बातो के अनुसार चलने से अहित होता है, दुःख होता है—तो हे कालामो, तुम उन बातो को छोड दो'।[3] बुद्ध का उपर्युक्त कथन श्रद्धा के ऊपर मानवीय विवेक की श्रेष्ठता का प्रतिपादक है।

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि बुद्ध मानवीय प्रज्ञा को श्रद्धा से पूर्णतया निर्मुक्त कर देते है। बुद्ध की दृष्टि मे ज्ञानविहीन श्रद्धा मनुष्य के स्वविवेक रूपी चक्षु को समाप्त कर उसे अन्धा बना देती है और श्रद्धा-विहीन ज्ञान मनुष्य को सशय और तर्क के मरूस्थल मे भटका देता है। इस मानवीय प्रकृति का विश्लेषण करते हुए विसुद्धिमग्ग मे कहा है कि बलवान् श्रद्धावाला किन्तु मन्द प्रज्ञा वाला व्यक्ति बिना सोचे-समझे हर कही विश्वास कर लेता है और बलवान् प्रज्ञावाला किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कुतार्किक (धूर्त) हो जाता है, वह औषधि से उत्पन्न होनेवाले रोग के समान ही असाध्य होता है।[4] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा और विवेक के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है। उनकी दृष्टि मे ज्ञान से युक्त श्रद्धा और श्रद्धा से युक्त ज्ञान ही साधना के क्षेत्र मे सच्चे दिशा-निर्देशक हो सकते है।

---

१. संयुत्तनिकाय, १।१।५९ २. वही, ४।४१।८
३. अंगुत्तरनिकाय, ३।६५ ४. गीता, ४।३९

गीता में श्रद्धा और ज्ञान का सम्बन्ध—गीता के अनुसार श्रद्धा को ही प्रथम स्थान देना होगा। गीताकार कहता है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान प्राप्त करता है।[१] यद्यपि गीता में ज्ञान की महिमा गायी गयी है, लेकिन ज्ञान श्रद्धा के ऊपर अपना स्थान नही बना पाया है, वह श्रद्धा की प्राप्ति का एक साधन ही है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते है कि निरन्तर मेरे ध्यान मे लीन और प्रीतिपूर्वक भजने वाले लोगों को मै बुद्धियोग प्रदान करता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते है।[२] यहां ज्ञान को श्रद्धा का परिणाम माना गया है। इस प्रकार गीता यह स्वीकार करती है कि यदि साधक मात्र श्रद्धा या भक्ति का सम्बल लेकर साधना के क्षेत्र मे आगे बढे तो ज्ञान उसे ईश्वरीय अनुकम्पा के रूप में प्राप्त हो जाता है। कृष्ण कहते है कि श्रद्धायुक्त भक्तजनों पर अनुग्रह करने के लिए मैं स्वयं उनके अन्तःकरण में स्थित होकर अज्ञानजन्य अन्धकार को ज्ञानरूपी प्रकाश से नष्ट कर देता हूं।[३] इस प्रकार गीता मे ज्ञान के स्थान पर साधना की दृष्टि मे श्रद्धा ही प्राथमिक सिद्ध होती है।

लेकिन जैन-विचारणा मे यह स्थिति नही है। यद्यपि उसमे श्रद्धा का काफी माहात्म्य निरूपित है और कभी तो वह गीता के अति निकट आकर यह भी कह देती है कि दर्शन (श्रद्धा) की विशुद्धि मे ज्ञान की विशुद्धि हो ही जाता है अर्थात श्रद्धा के सम्यक् होने पर सम्यक् ज्ञान उपलब्ध हो ही जाता है, फिर भी उसमे श्रद्धा ज्ञान और स्वानुभव के ऊपर प्रतिष्ठित नही हो सकती। इसके पीछे जो कारण है वह यह कि गीता मे श्रद्धेय इतना समर्थ माना गया है कि वह अपने उपासक के हृदय मे ज्ञान की आभा को प्रकाशित कर सकता है, जबकि जैन-विचारणा मे श्रद्धेय (उपास्य) उपासक को अपनी ओर से कुछ भी देने मे असमर्थ है, साधक को स्वयं ही ज्ञान उपलब्ध करना होता है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध—चारित्र और ज्ञान-दर्शन के पूर्वापर सम्बन्ध को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नही है। चारित्र की अपेक्षा ज्ञान और दर्शन को प्राथमिकता प्रदान की गई है। चारित्र साधना-मार्ग मे गति है जब ज्ञान साधना पथ का बोध है और दर्शन यह विश्वास जाग्रत करता है कि यह पथ उसे अपने लक्ष्य की ओर ले जानेवाला है। सामान्य पथिक भी यदि पथ के ज्ञान एवं इस दृढ विश्वास के अभाव मे कि वह पथ उसके वाछित लक्ष्य का जाता है, अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आध्यात्मिक साधना मार्ग का पथिक बिना ज्ञान और आस्था (श्रद्धा) के कैसे आगे बढ़ सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा गया है कि ज्ञान से (यथार्थ साधना मार्ग को) जाने, दर्शन के द्वारा उस पर विश्वास करे और चारित्र से उस साधना मार्ग पर आचरण करता हुआ तप से अपनी आत्मा का परिशोधन करे।[४]

---

१. गीता १०।१० २. वही, १०।२१
३. विसुद्धिमग्ग, ४।४७ ४. उत्तराध्ययन, २८।३५

यद्यपि लक्ष्य के पाने के लिए चारित्ररूप प्रयास आवश्यक है, लेकिन प्रयास को लक्ष्योन्मुख और सम्यक् होना चाहिए। मात्र अन्धे प्रयासों से लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ नहीं है तो ज्ञान यथार्थ नहीं होगा और ज्ञान के यथार्थ नहीं होने पर चारित्र या आचरण भी यथार्थ नहीं होगा। इसलिये जैन आगमों मे चारित्र से दर्शन (श्रद्धा) की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यक्चारित्र नहीं होता।[1] भक्तपरिज्ञा मे कहा गया है कि दर्शन मे भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक भ्रष्ट है, चारित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार मे अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता ! कदाचित चारित्र से रहित सिद्ध भी हो जावे, लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता[2]। वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण का सही दिशा-निर्देश करता है। आचार्य भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति मे कहते है कि सम्यक् दृष्टि से ही तप ज्ञान और सदाचरण सफल होते है।[3] संत आनन्दघन दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्तजिन के स्तवन मे कहते है—

> शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
> छार (राख) पर लीपणु तेह जाणो रे।

बौद्ध-दर्शन और गीता का दृष्टिकोण—जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन और गीता मे भी श्रद्धा को आचरण का पूर्ववर्ती माना गया है। संयुत्तनिकाय मे बुद्ध कहते है कि श्रद्धा पूर्वक दिया हुआ दान ही प्रशंसनीय है।[4] आचार्य भद्रबाहु और आनन्दघन तथा भगवान् बुद्ध के उपर्युक्त दृष्टिकोण के समान ही गीता मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है वह सभी असत् (असम्यक्) कहा जाता है वह—न तो इस लोक मे लाभदायक है न परलोक मे।[5] तैत्तिरीय उपनिषद् मे भी यही कहा गया है कि जो भी दानादि कर्म करना चाहिए उन्हें श्रद्धापूर्वक ही करना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नही।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ आचरण के पूर्व श्रद्धा को स्थान देती है। वस्तुतः श्रद्धा आचरण के अन्तस् मे निहित एक ऐसा तत्त्व है जो कर्म को उचितता प्रदान करता है। नैतिक जीवन के क्षेत्र मे वह एक आन्तरिक अकुश के रूप मे कार्य करती है और इसलिए वह कर्म मे प्रथम है।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्वापरता—जैन-विचारकों ने चारित्र को ज्ञान के बाद ही रखा है। दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि जो जीव और अजीव के

१. उत्तराध्ययन, २८।२९
२. भक्तपरिज्ञा, ६५-६६
३. आचारांगनिर्युक्ति, २२१
४. संयुत्तनिकाय १।१।३३
५. गीता, १७।२८
६. तैत्तिरीय उपनिषद् शिक्षावल्ली

स्वरूप को नही जानता, ऐसा जीव और अजीव के विषय मे अज्ञानी साधक क्या धर्म (सयम) का आचरण करेगा ?[१] उत्तराध्ययनसूत्र मे भी यही कहा है कि सम्यग्ज्ञान के अभाव मे सदाचरण नही होता ।[२] इस प्रकार जैन-दर्शन ज्ञान को चारित्र के पूर्व मानता है । जैन दार्शनिक यह तो स्वीकार करते है कि सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है, फिर भी वे यह स्वीकार नही करते है कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन है । ज्ञान आचरण का पूर्ववर्ती अवश्य है, यह भी स्वीकार किया गया है कि ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् नही हो सकता ।[३] लेकिन यह प्रश्न विचारणीय है कि क्या ज्ञान ही मोक्ष का मूल हेतु है ?

साधन-त्रय में ज्ञान का स्थान—जैनाचार्य अमृतचन्द्रसूरि ज्ञान की चारित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा स्पर्श कर लेते है । वे अपनी समयसार टीका मे लिखते है कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियो में अंतरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है । क्योंकि अज्ञान तो बन्ध का हेतु है, जबकि ज्ञानी मे ज्ञान का सद्भाव होने से बाह्य व्रत, नियम, सदाचरण, तप आदि की अनुपस्थिति होने पर भी मोक्ष का सद्-भाव है ।[४] आचार्य शकर भी यह मानते है कि एक ही कार्य ज्ञान के अभाव में बन्धन का हेतु और ज्ञान की उपस्थिति मे मोक्ष का हेतु होता है । इससे यही सिद्ध होता है कि कर्म नही, ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ।[५] आचार्य अमृतचन्द्र भी ज्ञान को त्रिविध साधनों मे प्रमुख मानते है । उनकी दृष्टि मे सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही रूप है । वे लिखते है कि मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है । जीवादि तत्त्वो के यथार्थ श्रद्धान रूप मे तो जो ज्ञान है वह तो सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञान-स्वभाव मे ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है तथा रागादि के त्याग-स्वभाव मे ज्ञान का होना सम्यक्चारित्र है । इस प्रकार ज्ञान ही परमार्थतः मोक्ष का कारण है ।[६] यहां पर आचार्य दर्शन और चारित्र को ज्ञान के अन्य दो पक्षो के रूप मे सिद्ध कर मात्र ज्ञान को ही मोक्ष का हेतु सिद्ध करते है । उनके दृष्टिकोण से अनुसार दर्शन और चारित्र भी ज्ञानात्मक है, ज्ञान की ही पर्याय है । यद्यपि यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि आचार्य मात्र ज्ञान की उपस्थिति मे मोक्ष के सद्भाव की कल्पना करते हैं, फिर भी वे अन्तरग चारित्र की उपस्थिति से इनकार नही करते है । अन्तरंग चारित्र तो कषाय आदि के क्षय के रूप मे सभी साधकों मे उपस्थित होता है । साधक और साध्य विवेचन में हम देखते है कि साधक आत्मा पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञानमय ही है

१. दशवैकालिक ४। १२
२. उत्तराध्ययन २८।३०
३. व्यवहारभाष्य, ७।२१७
४. समयसारटीका, १५३
५. गीता (शा०), अ० ५ पीठिका
६. समयसारटीका, १५५

और वही ज्ञानमय आत्मा उसका साध्य है। इस प्रकार ज्ञानस्वभावमय आत्मा ही मोक्ष का उपादान कारण है। क्योंकि जो ज्ञान है, वह आत्मा है और जो आत्मा है वह ज्ञान है।[१] अतः मोक्ष का हेतु ज्ञान ही सिद्ध होता है।[२]

इस प्रकार जैन-आचार्यों ने साधन-त्रय में ज्ञान को अत्यधिक महत्त्व दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र का उपर्युक्त दृष्टिकोण तो जैन-दर्शन को शंकर के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है जैन-विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। यद्यपि जैन साधना में ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति का प्राथमिक एवं अनिवार्य कारण है, फिर भी वह एक मात्र कारण नहीं माना जा सकता। ज्ञानाभाव में मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु मात्र ज्ञान से भी मुक्ति सम्भव नहीं है। जैन-आचार्यों ने ज्ञान को मुक्ति का अनिवार्य कारण स्वीकार करते हुए यह बताया कि श्रद्धा और चारित्र का आदर्शोन्मुख एवं सम्यक् होने के लिए ज्ञान महत्त्वपूर्ण तथ्य है, सम्यग्ज्ञान के अभाव में श्रद्धा अन्धश्रद्धा होगी और चारित्र या सदाचरण एक ऐसी कागजी मुद्रा के समान होगा, जिसका चाहे बाह्य मूल्य हो, लेकिन आन्तरिक मूल्य शून्य ही है। आचार्य कुन्दकुन्द, जो ज्ञानवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं वे भी स्पष्ट कहते हैं कि कोरे ज्ञान से निर्वाण नहीं होता यदि श्रद्धा न हो और केवल श्रद्धा से भी निर्वाण नहीं होता यदि संयम (सदाचरण) न हो।[३]

जैन-दार्शनिक शंकर के समान न तो यह स्वीकार करते हैं कि मात्र ज्ञान से मुक्ति हो सकती है, न रामानुज प्रभृति भक्तिमार्ग के आचार्यों के समान यह स्वीकार करते हैं कि मात्र भक्ति से मुक्ति होती है। उन्हें मीमांसा दर्शन की यह मान्यता भी ग्राह्य नहीं है कि मात्र कर्म से मुक्ति हो सकती है। वे तो श्रद्धासमन्वित ज्ञान और कर्म दोनों से मुक्ति की सम्भावना स्वीकार करते हैं।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध भी ऐकांतिक नहीं—जैन विचारणा के अनुसार साधन-त्रय में एक क्रम तो माना गया है यद्यपि इस क्रम को भी ऐकान्तिक रूप में स्वीकार करना उसकी स्याद्वाद की धारणा का अतिक्रमण ही होगा। क्योंकि जहाँ आचरण के सम्यक् होने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन आवश्यक है वहीं दूसरी ओर सम्यग्ज्ञान एवं दर्शन की उपलब्धि के पूर्व भी आचरण का सम्यक् होना आवश्यक है। जैनदर्शन के अनुसार जबतक तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायें समाप्त नहीं होतीं तब तक सम्यक्-दर्शन और ज्ञान भी प्राप्त नहीं होता। आचार्य शंकर ने भी ज्ञान की प्राप्ति के पूर्व वैराग्य का होना आवश्यक माना है। इस प्रकार सदाचरण और संयम के तत्त्व सम्यक्-दर्शन और ज्ञान की

---

१. समयसार, १० २. समयसारटीका, १५१

३. प्रवचनसार, चारित्राधिकार, ३

उपलब्धि के पूर्ववर्ती भी सिद्ध होते हैं। दूसरे, इस क्रम या पूर्वापरता के आधार पर भी साधन-त्रय में किसी एक को श्रेष्ठ मानना और दूसरे को गौण मानना जैनदर्शन को स्वीकृत नहीं है। वस्तुतः साधन-त्रय मानवीय चेतना के तीन पक्षों के रूप में ही साधना-मार्ग का निर्माण करते हैं। चेतना के इन तीन पक्षों में जैसी पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध रहा है, वैसी ही पारस्परिक प्रभावकता और अवियोज्य सम्बन्ध इन तीनों पक्षों में भी है।

ज्ञान और क्रिया के सहयोग से मुक्ति—साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया (विहित आचरण) के श्रेष्ठत्व को लेकर विवाद चला आ रहा है। वैदिक युग में जहाँ विहित आचरण की प्रधानता रही है वहाँ औपनिषदिक युग में ज्ञान पर बल दिया जाने लगा। भारतीय चिन्तकों के समक्ष प्राचीन समय से ही यह समस्या रही है कि ज्ञान और क्रिया के बीच साधना का यथार्थ तत्त्व क्या है? जैन-परम्परा ने प्रारम्भ से ही साधना-मार्ग में ज्ञान और क्रिया का समन्वय किया है। पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती युग में जब श्रमण परम्परा देहदण्डन-परक तप-साधना में और वैदिक परम्परा यज्ञयागपरक क्रियाकाण्डों में ही साधना की इतिश्री मानकर साधना के मात्र आचरणात्मक पक्ष पर बल देने लगी थी, तो उन्होंने उसे ज्ञान से समन्वित करने का प्रयास किया था। महावीर और उनके बाद जैन-विचारकों ने भी ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना-पथ का उपदेश दिया। जैन-विचारकों का यह स्पष्ट निर्देश था कि मुक्ति न तो मात्र ज्ञान से प्राप्त हो सकती है और न केवल सदाचरण से। ज्ञानमार्गी औपनिषदिक एवं सांख्य परम्पराओं की समीक्षा करते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा गया कि कुछ विचारक मानते हैं कि पाप का त्याग किए बिना ही मात्र आर्यतत्त्व (यथार्थता) को जानकर ही आत्मा सभी दुःखों से छूट जाती है—लेकिन बन्धन और मुक्ति के सिद्धान्त में विश्वास करने वाले ये विचारक संयम का आचरण नहीं करते हुए केवल वचनों से ही आत्मा को आश्वासन देते हैं।[1] सूत्रकृतांग में कहा है कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो, अनेक शास्त्रों का जानकार हो अथवा अपने को धार्मिक प्रकट करता हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।[2] अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। मन्त्रादि विद्या भी उसे कैसे बचा सकती है? असद् आचरण में अनुरक्त अपने आप को पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं।[3] आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और चारित्र के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन विस्तृत रूप में है। उसके कुछ अंश इस समस्या का हल खोजने में हमारे सहायक हो सकेंगे। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि 'आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसार-समुद्र से पार नहीं होते। मात्र शास्त्रीय ज्ञान से, बिना आचरण के कोई

---

१. उत्तराध्ययन, ६।९-१०　　२. सूत्रकृतांग, ७।१।७

३. उत्तराध्ययन, ६।११

मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जिस प्रकार निपुण चालक भी वायु या गति की क्रिया के अभाव में जहाज को इच्छित किनारे पर नही पहुँचा सकता वैसे ही ज्ञानी आत्मा भी तप-संयम रूप सदाचरण के अभाव में मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।[1] मात्र जान लेने से कार्य-सिद्धि नहीं होती। तैरना जानते हुए भी कोई कायचेष्टा नही करे तो डूब जाता है, वैसे ही शास्त्रों को जानते हुए भी जो धर्म का आचरण नहीं करता, वह डूब जाता है।[2] जैसे चन्दन ढोने वाला चन्दन से लाभान्वित नहीं होता, मात्र भार-वाहक ही बना रहता है वैसे ही आचरण से हीन ज्ञानी ज्ञान के भार का वाहक मात्र है, इससे उसे कोई लाभ नहीं होता।[3] ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध को लोक-प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते है कि जैसे वन में दावानल लगने पर पंगु उसे देखते हुए भी गति के अभाव मे जल मरता है और अन्धा सम्यक् मार्ग न खोज पाने के कारण जल मरता है वैसे ही आचरणविहीन ज्ञान पंगु के समान है और ज्ञानचक्षु विहीन आचरण अन्धे के समान है। आचरणविहीन ज्ञान और ज्ञान-विहीन आचरण दोनों निरर्थक है और संसार रूपी दावानल से साधक को बचाने में असमर्थ हैं। जिस प्रकार एक चक्र से रथ नही चलता, अकेला अन्धा अकेला पंगु इच्छित साध्य तक नहीं पहुँचते, वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, वरन् दोनों के सहयोग से मुक्ति होती है।[4] भगवतीसूत्र मे ज्ञान और क्रिया में से किसी एक को स्वीकार करने की विचारणा को मिथ्या विचारणा कहा गया है।[5] महावीर ने साधक की दृष्टि से ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक सम्बन्ध की एक चतुर्भंगी का कथन इसी संदर्भ में किया है—

१. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न है, लेकिन चारित्र-सम्पन्न नहीं हैं।
२. कुछ व्यक्ति चारित्र सम्पन्न है, लेकिन ज्ञान-सम्पन्न नही हैं।
३. कुछ व्यक्ति न ज्ञान सम्पन्न हैं, न चारित्र सम्पन्न हैं।
४. कुछ व्यक्ति ज्ञान सम्पन्न भी है और चारित्र-सम्पन्न भी हैं।

महावीर ने इनमें से सच्चा साधक उसे ही कहा जो ज्ञान और क्रिया, श्रुत और शील दोनों से सम्पन्न है। इसी को स्पष्ट करने के लिए एक निम्न रूपक भी दिया जाता है—

१. कुछ मुद्रायें ऐसी होती है जिनमें धातु भी खोटी है मुद्रांकन भी ठीक नहीं है।
२. कुछ मुद्राएँ ऐसी होती है जिनमे धातु तो शुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक नहीं है।
३. कुछ मुद्राएँ ऐसी है जिनमे धातु अशुद्ध है लेकिन मुद्रांकन ठीक है।
४. कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिनमे धातु भी शुद्ध है और मुद्रांकन भी ठीक है।

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ९५-९७ २. वही, ११५१-५४
३. वही, १०० ४. वही १०१-१०२
५. भगवतीसूत्र ८।१०।४१

बाजार में वही मुद्रा ग्राह्य होती है जिसमे धातु भी शुद्ध होती है और मुद्रांकन भी ठीक होता है। इसी प्रकार सच्चा साधक वही होता है जो ज्ञान-सम्पन्न भी हो और चारित्र सम्पन्न भी हो। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि ज्ञान और क्रिया दोनों ही नैतिक साधना के लिए आवश्यक है। ज्ञान और चारित्र दोनों की समवेत-साधना से ही दुःख का क्षय होता है। क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों ही एकान्त है और एकान्त होने के कारण जैन-दर्शन की अनेकान्तवादी विचारणा के अनुकूल नही है।

वैदिक-परम्परा में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति—जैन-परम्परा के समान वैदिक-परम्परा में भी ज्ञान और क्रिया दोनो के समन्वय मे ही मुक्ति की सम्भावना मानी गयी है। नृसिंहपुराण मे भी आवश्यकनिर्युक्ति के समान सुन्दर रूपको के द्वारा इसे सिद्ध किया गया है। कहा गया है कि जैसे रथहीन अश्व और अश्वहीन रथ अनुपयोगी है वैसे ही विद्या-विहीन तप और तप-विहीन विद्या निरर्थक है। जैसे दो पंखों के कारण पक्षी की गति होती है वैसे ही ज्ञान और कर्म दोनो के सहयोग से मुक्ति होती है।[1] क्रियाविहीन ज्ञान और ज्ञानविहीन क्रिया दोनों निरर्थक है।[2] यद्यपि गीता ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनों को ही स्वतन्त्ररूप से मुक्ति का मार्ग बताती है। गीता के अनुसार व्यक्ति ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग तीनो में से किसी एक के द्वारा भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है, जब कि जैन परम्परा मे इनके समवेत में ही मुक्ति मानी गयी है।

बौद्ध-विचारणा में प्रज्ञा और शील का सम्बन्ध—जैन-दर्शन के समान बौद्ध-दर्शन भी न केवल ज्ञान (प्रज्ञा) की उपादेयता स्वीकार करता है और न केवल आचरण की। उसकी दृष्टि मे भी ज्ञानशून्य आचरण और क्रियाशून्य ज्ञान निर्वाण-मार्ग मे सहायक नही है। उसने सम्यग्दृष्टि और सम्यक्स्मृति के साथ ही सम्यक्-वाचा, सम्यक्-आर्जीव और सम्यक्-कर्मान्त को स्वीकार कर इसी तथ्य की पुष्टि की है कि प्रज्ञा और शील के समन्वय मे ही मुक्ति है। बुद्ध ने क्रियाशून्य ज्ञान और ज्ञानशून्य क्रिया दोनों को अपूर्ण माना है। जातक मे कहा गया है कि आचरणरहित श्रुत से कोई अर्थ सिद्ध नही होता।[3] दूसरी ओर बुद्ध की दृष्टि मे नैतिक आचरण अथवा कर्म चित्त की एकाग्रता के लिए है। वे एक साधन है और इसलिए परमसाध्य नही हो सकते। मात्र शीलव्रत-परामर्श अथवा ज्ञानशून्य क्रियाएँ बौद्ध-साधना का लक्ष्य नहीं है, प्रज्ञा की प्राप्ति ही एक ऐसा तथ्य है, जिससे नैतिक आचरण बनता है। डा० टी० आर० व्ही० मूर्ति ने शान्तिदेव की बोधिचर्यावतार की पंजिका एवं अष्टमहस्रिका मे भी इस कथन की पुष्टि के लिए

१. नृसिंहपुराण, ६१।९।११ २. उद्धृत दी क्वेस्ट आफ्टर परफेक्शन, पृ० ६३
३. जातक, ५।३७३।१२७

प्रमाण उपस्थित किये हैं।[1] बौद्ध-विचारणा में शील और प्रज्ञा दोनों का समान रूप से महत्व स्वीकार किया गया है। सुत्तपिटक के ग्रन्थ थेरगाथा में कहा गया है—"संसार में शील ही श्रेष्ठ है, प्रज्ञा ही उत्तम है। मनुष्यों और देवों में शील और प्रज्ञा से ही वास्तविक विजय होती है।[2]

भगवान् बुद्ध ने शील और प्रज्ञा में एक सुन्दर समन्वय प्रस्तुत किया है। दीघनिकाय में कहा है कि शील से प्रज्ञा प्रक्षालित होती है और प्रज्ञा (ज्ञान) से शील (चारित्र) प्रक्षालित होता है। जहां शील है वहां प्रज्ञा है और जहां प्रज्ञा है वहां शील है। इस[3] प्रकार बुद्ध की दृष्टि में शीलविहीन प्रज्ञा और प्रज्ञाविहीन शील दोनों ही असम्यक् हैं। जो ज्ञान और आचरण दोनों में समन्वित हैं, वही सब देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।[4] आचरण के द्वारा ही प्रज्ञा की शोभा बढ़ती है।[5] इस प्रकार बुद्ध भी प्रज्ञा और शील के समन्वय में निर्वाण की उपलब्धि संभव मानते हैं। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन शील पर और परवर्ती बौद्ध दर्शन प्रज्ञा पर अधिक बल देता रहा है।

तुलनात्मक दृष्टि से विचार—जैन परम्परा में साधन-त्रय के समवेत में ही मोक्ष की निष्पत्ति मानी गई है। वैदिक परम्परा में ज्ञान-निष्ठा, कर्मनिष्ठा और भक्तिमार्ग ये तीनों ही अलग-अलग मोक्ष के साधन माने जाते रहे हैं और इन आधारों पर वैदिक परम्परा में स्वतन्त्र सम्प्रदायों का उदय भी हुआ है। वैदिक परम्परा में प्रारम्भ से ही कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग की धाराएँ अलग अलग रूप में प्रवाहित होती रही हैं। भागवत सम्प्रदाय के उदय के साथ भक्तिमार्ग एक नई निष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। इस प्रकार वेदों का कर्ममार्ग, उपनिषदों का ज्ञानमार्ग और भागवत सम्प्रदाय का भक्ति-मार्ग तथा इनके साथ साथ ही योगसम्प्रदाय का ध्यान-मार्ग सभी एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप में मोक्षमार्ग समझे जाते रहे हैं। सम्भवतः गीता एक ऐसी रचना अवश्य है जो इन सभी साधना विधियों को स्वीकार करती है। यद्यपि गीताकार ने इन विभिन्न धाराओं को समेटने का प्रयत्न तो किया, लेकिन वह उनको समन्वित नहीं कर पाया यही कारण था कि परवर्ती टीकाकारों ने अपने पूर्व-संस्कारों के कारण गीता को इनमें से किसी एक साधना-मार्ग का प्रतिपादक बताने का प्रयास किया और गीता में निर्देशित साधना के दूसरे मार्गों को गौण बताया। शंकर ने ज्ञान को, रामानुज ने भक्ति को, तिलक ने कर्म को गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय माना।

लेकिन जैन-विचारकों ने इस त्रिविध साधना-पथ को समवेत रूप में ही मोक्ष का

१. दी सेन्ट्रल फिलासफी आफ बुद्धिज्म, पृ० ३०–३१
२. थेरगाथा, १।७०
३. दीघनिकाय, १।४।४
४. मज्झिमनिकाय, २।३।५
५. अंगुत्तरनिकाय तीसरा निपात पृ० १०४

कारण माना और यह बताया कि ये तीनों एक-दूसरे से अलग होकर नहीं, वरन् समवेत रूप में ही मोक्ष को प्राप्त करा सकते हैं। उसने तीनों को समान माना और उनमें से किसी को भी एक के अधीन बनाने का प्रयास नहीं किया। हमें इस भ्रांति से बचना होगा कि श्रद्धा, ज्ञान और आचरण ये स्वतन्त्ररूप मे नैतिक पूर्णता के मार्ग हो सकते हैं। मानवीय व्यक्तित्व और नैतिकसाध्य एक पूर्णता है और उसे समवेत रूप में ही पाया जा सकता है।

बौद्ध-परम्परा और जैन परम्परा दोनों ही एकांगी दृष्टिकोण नहीं रखते हैं। बौद्ध-परम्परा में भी शील, समाधि और प्रज्ञा अथवा प्रज्ञा, श्रद्धा और वीर्य को समवेत रूप में ही निर्वाण का कारण माना गया है। इस प्रकार बौद्ध और जैन परम्पराएँ न केवल अपने साधन-मार्ग के प्रतिपादन में, वरन् साधन-त्रय के बलाबल के विषय में भी समान दृष्टिकोण रखती हैं।

वस्तुतः नैतिक साध्य का स्वरूप और मानवीय प्रकृति, दोनों ही यह बताते हैं कि त्रिविध साधना-मार्ग अपने समवेत रूप में ही नैतिक पूर्णता की प्राप्ति करा सकता है। यहाँ इस त्रिविध साधना-पथ का मानवीय प्रकृति और नैतिक साध्य से क्या सम्बन्ध है इसे स्पष्ट कर लेना उपयुक्त होगा।

मानवीय प्रकृति और त्रिविध साधना-पथ—मानवीय चेतना के तीन कार्य हैं—१. जानना; २. अनुभव करना और ३. संकल्प करना। हमारी चेतना का ज्ञानात्मक पक्ष न केवल जानना चाहता है, वरन् वह सत्य को ही जानना चाहता है। ज्ञानात्मक चेतना निरन्तर सत्य की खोज में रहती है। अतः जिस विधि से हमारी ज्ञानात्मक चेतना सत्य को उपलब्ध कर सके उसे ही सम्यक् ज्ञान कहा गया है। सम्यक् ज्ञान चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सत्य की उपलब्धि की दिशा में ले जाता है। चेतना का दूसरा पक्ष अनुभूति के रूप में आनन्द की खोज करता है। सम्यग्दर्शन चेतना में राग-द्वेषात्मक जो तनाव हैं, उन्हें समाप्त कर उसे आनन्द प्रदान करता है। चेतना का तीसरा संकल्पनात्मक पक्ष शक्ति की उपलब्धि और कल्याण की क्रियान्वित चाहता है। सम्यक्चारित्र संकल्प को कल्याण के मार्ग मे नियोजित कर शिव को उपलब्धि करता हैं। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान, दर्शन और चारित्र का यह त्रिविध साधना-पथ चेतना के तीनों पक्षों को सही दिशा में निर्देशित कर उनके वांछित लक्ष्य सत्, सुन्दर और शिव अथवा अनन्त ज्ञान, आनन्द और शक्ति की उपलब्धि कराता है। वस्तुतः जीवन के साध्य को उपलब्ध करा देना ही इस त्रिविध साधना-पथ का कार्य है। जीवन का साध्य अनन्त एवं पूर्ण ज्ञान, अक्षय आनन्द और अनन्त शक्ति की उपलब्धि है, जिसे त्रिविध साधना-पथ के तीनों अंगों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। चेतना के ज्ञानात्मक पक्ष को सम्यक्-ज्ञान की दिशा में नियोजित कर ज्ञान की पूर्णता को, चेतना के भावात्मक पक्ष को सम्यग्दर्शन में नियोजित कर अक्षय आनन्द की और चेतना के संकल्पात्मक पक्ष को

सम्यक्चारित्र में नियोजित कर अनन्त शक्ति की उपलब्धि की जा सकती है। वस्तुतः जैन आचार-दर्शन में साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों में अभेद माना गया है। ज्ञान, अनुभूति और संकल्पमय चेतना साधक है और यही चेतना के तीनों पक्ष सम्यक् दिशा में नियोजित होने पर साधना-पथ कहलाते हैं और इन तीनों पक्षों की पूर्णता ही साध्य है। साधक, साध्य और साधना-पथ भिन्न-भिन्न नहीं, वरन् चेतना की विभिन्न अवस्थाएँ हैं। उनमें अभेद माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में और आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में इस अभेद को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में स्पष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में कहते हैं कि यह आत्मा ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र है।[1] आचार्य हेमचन्द्र इसी अभेद को स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र में कहते हैं कि आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है, क्योंकि आत्मा इसी रूप में शरीर में स्थित है।[2] आचार्य ने यह कहकर कि आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र के रूप में शरीर में स्थित है, मानवीय मनोवैज्ञानिक प्रकृति को ही स्पष्ट किया है। ज्ञान, चेतना और संकल्प तीनों सम्यक् होकर साधना-पथ का निर्माण कर देते हैं और यही पूर्ण होकर साध्य बन जाते हैं। इस प्रकार जैन आचार-दर्शन में साधक, साधना-पथ और साध्य में अभेद है।

मानवीय चेतना के उपर्युक्त तीनों पक्ष जब सम्यक् दिशा में नियोजित होते हैं तो वे साधना-मार्ग कहे जाते हैं और जब वे असम्यक् दिशा में या गलत दिशा में नियोजित होते हैं तो बन्धन या पतन के कारण बन जाते हैं। इन तीनों पक्षों की गलत दिशा में गति ही मिथ्यात्व और सही दिशा में गति सम्यक्त्व कही जाती है। वस्तुतः सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए मिथ्यात्व (अविद्या) का विसर्जन आवश्यक है। क्योंकि मिथ्यात्व ही अनैतिकता या दुराचार का मूल है। मिथ्यात्व का आवरण हटने पर सम्यक्त्व रूपी सूर्य का प्रकाश होता है।

१. समयसार, २७७ २. योगशास्त्र, ४।१

३ अविद्या (मिथ्यात्व)

जैनागमों मे अज्ञान और अयथार्थ ज्ञान दोनों के लिए 'मिथ्यात्व' शब्द का प्रयोग हुआ है। यही नही, कुछ सन्दर्भो मे अज्ञान, अयथार्थ ज्ञान, मिथ्यात्व और मोह समान अर्थ मे भी प्रयुक्त हुए है। यहाँ अज्ञान शब्द का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ मे किया जा रहा है जिसमे उक्त शब्दों का अर्थ भी निहित है। नैतिक दृष्टि मे अज्ञान नैतिक आदर्श के यथार्थ ज्ञान के अभाव और शुभाशुभ विवेक की कमी को व्यक्त करता है। जब तक मनुष्य को स्व-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नही होता—अर्थात् मै क्या हूं, मेरा आदर्श क्या है, या मुझे क्या प्राप्त करना है? तब तक वह नैतिक जीवन मे प्रविष्ट नही हो सकता। जैन विचारक कहते है कि जो आत्मा को नही जानता, जड पदार्थो को नही जानता, वह संयम का कैसे पालन (नैतिक साधना) करेगा?[1]

ऋषिभाषितसूत्र मे तरुण साधक अर्हत् ऋषि गाथापतिपुत्र कहते है—अज्ञान ही बहुत बड़ा दुःख है। अज्ञान से ही भय (दुःख) का जन्म होता है, समस्त देहधारियों के लिए भव-परम्परा का मूल विविधरूपों मे व्याप्त अज्ञान ही है। जन्म, जरा और मृत्यु, शोक, मान और अपमान सभी जीवात्मा के अज्ञान से उत्पन्न हुए है। संसार का प्रवाह (संतति) अज्ञानमूलक है।[2]

भारतीय नैतिक चिन्तन में मात्र कर्मो की शुभाशुभता पर ही विचार नही किया गया, वरन् शुभाशुभ कर्मों का कारण जानने का भी प्रयास किया गया है। क्यों एक व्यक्ति अशुभ कृत्यों की ओर प्रेरित होता है और क्यों दूसरा व्यक्ति शुभकृत्यो की ओर प्रेरित होता है? गीता मे अर्जुन यह प्रश्न उठाता है कि हे कृष्ण, नही चाहते हुए भी किसकी प्रेरणा से प्रेरित हो यह पुरुष पाप-कर्म मे नियोजित होता है।[3]

जैन-दर्शन के अनुसार इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्व ही अशुभ की ओर प्रवृत्ति करने का कारण है।[4] बुद्ध का भी कहना है कि मिथ्यात्व ही अशुभाचरण और सम्यक् दृष्टि ही सदाचरण का कारण है।[5] गीता कहती है कि रजोगुण से समुद्भूत काम ही ज्ञान को आवृत्तकर व्यक्ति को बलात् पाप-कर्म की ओर प्रेरित करता है। इस प्रकार

---

१. दशवैकालिक, ४।१२
२. इसिभासियाइंसुत्त, गहावइज्जं नामज्झयणं
३. गीता, ३।३६
४. इसिभासियाइंसुत्त, २१।३
५. अंगुत्तरनिकाय, १।१७

बौद्ध, जैन और गीता के तीनों आचार-दर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि अनैतिक आचरण में प्रवृत्ति का कारण मिथ्या दृष्टिकोण है।

मिथ्यात्व का अर्थ—जैन-विचारकों की दृष्टि मे वस्तुतत्त्व का अपने यथार्थ स्वरूप में बोध न होना ही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व लक्ष्य-विमुखता है, तत्त्वरुचि का अभाव है अथवा सत्य के प्रति जिज्ञासा या अभीप्सा का अभाव है। बुद्ध ने अविद्या को वह स्थिति माना है जिसके कारण व्यक्ति परमार्थ को सम्यक् रूप से नही जान पाता। बुद्ध कहते हैं, आस्वाद दोष और मोक्ष को यथार्थतः नही जानता है यही अविद्या है।[1] मिथ्या स्वभाव को स्पष्ट करते हुए बुद्ध कहते है, जो मिथ्यादृष्टि है—मिथ्यासमाधि है—इसीको मिथ्या स्वभाव कहते है।[2] मिथ्यात्व एक ऐसा दृष्टिकोण है जो सत्य की दिशा मे विमुख है। संक्षेप मे मिथ्यात्व असत्याभिरुचि है, राग और द्वेष के कारण दृष्टिकोण का विकृत हो जाना है।

जैन-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार—आचार्य पूज्यपाद ने मिथ्यात्व को उत्पत्ति की दृष्टि से दो प्रकार का बताया है—१. नैसर्गिक (अनर्जित) अर्थात् मोहकर्म के उदय से होने वाला तथा २. परोपदेश पूर्वक अर्थात् मिथ्याधारणा वाले लोगों के उपदेश से स्वीकार किया जाने वाला। यह अर्जित मिथ्यात्व चार प्रकार का है—(अ) क्रिया-वादी—आत्मा को कर्ता मानना, (ब) अक्रियावादी—आत्मा को अकर्ता मानना, (स) अज्ञानी—सत्य की प्राप्ति को संभव नहीं मानना, (द) वैनयिक—रूढ़ परम्पराओं को स्वीकार करना।

स्वरूप की दृष्टि से जैनागमों में मिथ्यात्व के पाच प्रकार भी वर्णित है[3]—

१. **एकान्त**—जैन तत्त्वज्ञान मे वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक माना गया है। उसमे मात्र अनन्त गुण ही नही होते है वरन् गुणों के विरोधी युगल भी होते हैं। अतः वस्तुतत्त्व का एकांगी ज्ञान पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता। वह आंशिक सत्य होता है, पूर्ण सत्य नही। आंशिक सत्य जब पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो वह मिथ्यात्व हो जाता है। न केवल जैन-विचारणा, वरन् बौद्ध-विचारणा मे भी ऐकान्तिक ज्ञान को मिथ्या कहा गया है। बुद्ध कहते है—'भारद्वाज ! सत्यानुरक्षक विज्ञ पुरुष को एकांश से यह निष्ठा करना योग्य नही है कि यही सत्य है और बाकी सब मिथ्या है।' बुद्ध इस सारे कथन में इसी बात पर जोर देते है कि सापेक्ष कथन के रूप मे ही सत्यानुरक्षण होता है, अन्य प्रकार से नहीं।[4] उदान मे भी कहा है कि जो एकांतदर्शी हैं वे ही विवाद करते हैं।[5]

---

१. संयुत्तनिकाय, २१।३।३।८ २. वही, ४३।३।१

३. तत्त्वार्थसूत्र, सर्वार्थसिद्धिटीका (पूज्यपाद), ८।१

४. मज्झिमनिकाय चंकिसुत्त २।५।५ पृ० ४०० ५. उदान, ६।४

२. **विपरीत**—वस्तुतत्त्व को स्वरूप में ग्रहण न कर विपरीत रूप में ग्रहण करना भी मिथ्यात्व है। प्रश्न हो सकता है कि जब वस्तुतत्त्व अनन्तधर्मात्मक है और उसमें विरोधी धर्म भी हैं तो सामान्य व्यक्ति, जिसका ज्ञान अंशग्राही है, इस विपरीत ग्रहण के दोष से कैसे बच सकता है, क्योंकि उसने वस्तुतत्त्व के जिस पक्ष को ग्रहण किया उसका विरोधी धर्म भी उसमें उपस्थित है अतः उसका समस्त ग्रहण विपरीत ही होगा! इस विचार मे भ्रान्ति यह है कि यद्यपि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, लेकिन यह तो सामान्य कथन है। एक अपेक्षा से वस्तु मे दो विरोधी धर्म नही होते, एक ही अपेक्षा मे आत्मा को नित्य और अनित्य नही माना जाता है। आत्मा द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है तो पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य है, अतः आत्मा को पर्यायार्थिक दृष्टि से भी नित्य मानना विपरीत ग्रहण रूप मिथ्यात्व है। बुद्ध ने भी विपरीत ग्रहण को मिथ्या-दृष्टित्व माना है और विभिन्न प्रकार के विपरीत ग्रहणों को स्पष्ट किया है।[1] गीता मे भी विपरीत ग्रहण को अज्ञान कहा गया है। अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म के रूप मे मानने वाली बुद्धि को गीता में तामस कहा गया है (गीता, १८।३२)

३. **वैनयिक**—बिना बौद्धिक गवेषणा के परम्परागत तथ्यों, धारणाओं, नियमो-पनियमों को स्वीकार कर लेना वैनयिक मिथ्यात्व है। यह एक प्रकार की रूढिवादिता है। वैनयिक मिथ्यात्व को बौद्ध दृष्टि से शीलव्रत-परामर्श भी कहा जा सकता है। इसे हम कर्मकाण्डी मनोवृत्ति भी कह सकते हैं। गीता मे इस प्रकार के रूढ़-व्यवहार की निन्दा की गयी है। गीता कहती है ऐसी क्रियाएँ जन्म-मरण को बढ़ानेवाली और त्रिगुणात्मक होती है।[2]

४. **संशय**—संशयावस्था को भी जैन-विचारणा मे मिथ्यात्व या अयथार्थता माना गया है। यद्यपि जैन-दार्शनिकों की दृष्टि मे संशय को नैतिक विकास की दृष्टि से अनुपादेय माना गया है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि जैन-विचारकों ने संशय को इस कोटि में रखकर उसके मूल्य को भुला दिया है। जैन-विचारक भी आज के वैज्ञानिकों की तरह संशय को ज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं। जैनागम आचारांगसूत्र में कहा गया है, जो संशय को जानता है वही संसार के स्वरूप का परिज्ञाता होता है, जो संशय को नहीं जानता वह संसार के स्वरूप का भी परिज्ञाता नहीं हो सकता है।[3] लेकिन साधनामय जीवन मे संशय से ऊपर उठना होता है। आचार्य आत्मारामजी आचारांगसूत्र की टीका मे लिखते हैं, संशय ज्ञान कराने मे सहायक है, परन्तु यदि वह जिज्ञासा की सरल भावना का परित्याग करके केवल संदेह करने की कुटिल वृत्ति अपनाता है तो वह पतन का कारण बन जाता है।[4] संशय वह स्थिति है जिसमे प्राणी सत्

१. अंगुत्तरनिकाय, १।११ २. गीता, २।४२-४५
३. आचारांग, १।५।१।१४४ ४. आचारांग-हिन्दीटीका, प्रथम भाग, पृ० ४०९

और असत् की कोई निश्चित धारणा नही रखता। यह अनिर्णय की अवस्था है। सांशयिक ज्ञान सत्य होने हुए भी मिथ्या है। नैतिक दृष्टि मे ऐसा साधक कब पथ-भ्रष्ट हो सकता है, कहा नहीं जा सकता। वह तो लक्ष्योन्मुखता और लक्ष्यविमुखता के मध्य हिंडोले की भाति झूलता हुआ अपना समय व्यर्थ गँवाता है। गीता भी यही कहती है कि संशय की अवस्था मे लक्ष्य प्राप्त नही होता। सशयी आत्मा विनाश को ही प्राप्त होता है।[1]

५. अज्ञान—जैन विचारकों ने अज्ञान को पूर्वाग्रह, विपरीत-ग्रहण, संशय और ऐकान्तिक ज्ञान से पृथक् माना है। उपर्युक्त चारो मिथ्यात्व के विधायक पक्ष कहे जा सकते है। क्योकि इनमे ज्ञान तो उपस्थित है, लेकिन वह अयथार्थ है। इनमे ज्ञानाभाव नही, वरन् ज्ञान की अयथार्थता है जबकि अज्ञान ज्ञानाभाव है। अत वह मिथ्यात्व का निषेधात्मक पक्ष प्रस्तुत करता है। अज्ञान नैतिक-साधना का सब से अधिक बाधक तत्त्व है, क्योंकि ज्ञानाभाव मे व्यक्ति को अपने लक्ष्य का भान नही हो सकता है, न वह कर्तव्याकर्तव्य का विचार कर सकता है। शुभाशुभ मे विवेक करने की क्षमता का अभाव अज्ञान ही है। ऐसे अज्ञान की अवस्था मे नैतिक आचरण सभव नही होता।

मिथ्यात्व के २५ भेद—मिथ्यात्व के २५ भेदों का उल्लेख प्रतिक्रमणसूत्र मे है जिसमे से १० भेदो का उल्लेख स्थानागसूत्र मे है, शेष मिथ्यात्व के भेदो का वर्णन मूलागम ग्रन्थो मे यत्रतत्र बिखरा हुआ मिलता है। ये २५ भेद इस प्रकार है—

(१) धर्म को अधर्म समझना, (२) अधर्म को धर्म समझना, (३) संसार (बधन) के मार्ग को मुक्ति का मार्ग समझना (४) मुक्ति के मार्ग को बन्धन का मार्ग समझना, (५) जड पदार्थो को चेतन (जीव) समझना (६) आत्मतत्त्व (जीव) को जड पदार्थ (अजीव) समझना, (७) असम्यक् आचरण करनेवालो को साधु समझना (८) सम्यक् आचरण करनेवाले को असाधु समझना, (९) मुक्तात्मा को बद्ध मानना, (१०) राग-द्वेष से युक्त को मुक्त समझना।[2] (११) आभिग्रहिक मिथ्यात्व-परम्परागत रूप में प्राप्त धारणाओं को बिना समीक्षा के अपना लेना अथवा उसमे जकडे रहना। (१२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—सत्य को जानते हुए भी उसे स्वीकार नही करना अथवा सभी मतों को समान मूल्य का समझना। (१३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अभिमान की रक्षा के निमित्त असत्य मान्यता को हठपूर्वक पकडे रहना। (१४) सांशयिक मिथ्यात्व—संशय ग्रस्त बने रहकर सत्य का निश्चय नही कर पाना। (१५) अनाभोग मिथ्यात्व—विवेक अथवा ज्ञान क्षमता का अभाव। (१६) लौकिक मिथ्यात्व—लोक रूढ़ि मे अविचार पूर्वक बँधे रहना। (१७) लोकोत्तर मिथ्यात्व—पारलौकिक उपलब्धियो के निमित्त स्वार्थवश धर्म-साधना करना। (१८) कुप्रवचन मिथ्यात्व—मिथ्या दार्शनिक विचारणाओं को ग्रहण करना। (१९) न्यून मिथ्यात्व—पूर्ण सत्य को आशिक सत्य अथवा तत्त्व स्वरूप

१. गीता ४।४०　　२. स्थानाग १०, तुलना कीजिए—अंगुत्तरनिकाय, १।१०-१२

को अंशतः अथवा न्यून मानना। (२०) अधिक मिथ्यात्व—आंशिक सत्य को उससे अधिक अथवा पूर्ण सत्य समझ लेना। (२१) विपरीत मिथ्यात्व–वस्तुतत्त्व को उसके विपरीत रूप में समझना। (२२) अक्रिया मिथ्यात्व—आत्मा को एकान्तिक रूप से अक्रिय मानना अथवा ज्ञान को महत्त्व देकर आचरण के प्रति उपेक्षा रखना। (२३) अज्ञान मिथ्यात्व—ज्ञान अथवा विवेक का अभाव। (२४) अविनय मिथ्यात्व—पूज्य वर्ग के प्रति समुचित सम्मान प्रकट न करना अथवा उनकी आज्ञाओं का परिपालन न करना। (२५) आशानता मिथ्यात्व—पूज्य वर्ग की निन्दा और आलोचना करना।

अविनय और आशातना को मिथ्यात्व इसलिए कहा गया कि इनकी उपस्थिति से व्यक्ति गुरुजनों का यथोचित सम्मान नही करता है और फलस्वरूप उनमे मिलने वाले यथार्थ बोध से वंचित रहता है।

बौद्ध-दर्शन में मिथ्यात्व के प्रकार—भगवान् बुद्ध ने सद्धर्म की विनाशक कुछ धारणाओं का विवेचन अगुत्तरनिकाय[1] मे किया है जो कि जैन विचारणा के मिथ्यात्व की धारणा के बहुत निकट है। तुलना के लिए यहा उनकी संक्षिप्त सूची प्रस्तुत की जा रही है जिसके आधार पर यह जाना जा सके कि दोनों विचार-परम्पराओं मे कितना अधिक साम्य है।

१. धर्म को अधर्म बताना, २. अधर्म को धर्म बताना, ३. भिक्षु अनियम (अविनय) को भिक्षुनियम (विनय) बताना, ४. भिक्षुनियम को अनियम बताना, ५. तथागत (बुद्ध) द्वारा अभाषित को तथागत भाषित कहना, ६. तथागत द्वारा भाषित को अभाषित कहना, ७. तथागत द्वारा अनाचरित को आचरित कहना, ८. तथागत द्वारा आचरित को अनाचरित कहना, ९. तथागत द्वारा नही बनाये हुए (अप्रज्ञप्त) नियम को प्रज्ञप्त कहना, १०. तथागत द्वारा प्रज्ञप्त (बनाये हुए नियम) को अप्रज्ञप्त बताना, ११. अनपराध को अपराध कहना, १२. अपराध को अनपराध कहना, १३. लघु अपराध को गुरु अपराध कहना, १४. गुरु अपराध को लघु अपराध कहना, १५. गम्भीर अपराध को अगम्भीर कहना, १६. अगम्भीर अपराध को गम्भीर कहना, १७. निर्विशेष अपराध को सविशेष कहना, १८. सविशेष अपराध को निर्विशेष कहना, १९. प्रायश्चित्त योग्य (सप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित्त के अयोग्य कहना, २०. प्रायश्चित्त के अयोग्य (अप्रतिकर्म) आपत्ति को प्रायश्चित्त के योग्य (सप्रतिकर्म) कहना।

गीता में अज्ञान—गीता के मोह, अज्ञान या तामस ज्ञान ही मिथ्यात्व कहे जा सकते है। इस आधार पर गीता मे मिथ्यात्व का निम्न स्वरूप उपलब्ध होता है—१. परमात्मा लोक का सर्जन करने वाला, कर्म का कर्ता एवं कर्मों के फल का संयोग करनेवाला है अथवा वह किसी के पाप-पुण्य को ग्रहण करता है, यह मानना अज्ञान है (५-१४-१५)। २. प्रमाद, आलस्य और निद्रा अज्ञान है (१४-८)। ३. धन, परिवार

१. अंगुत्तरनिकाय, १।१०-१२

एवं दान का अहंकार करना अज्ञान है (१६-१५) ४. विपरीत ज्ञान के द्वारा क्षणभंगुर या नाशवान शरीर में आत्मबुद्धि रखना तामसिक ज्ञान है (१८-२२)। इसी प्रकार असद् का ग्रहण, अशुभ आचरण (१६-१०) और संशयात्मकता को भी गीता में अज्ञान कहा गया है।

पाश्चात्य दर्शन में मिथ्यात्व का प्रत्यय—मिथ्यात्व यथार्थता के बोध में बाधक तत्त्व है। वह एक ऐसा रंगीन चश्मा है जो वस्तुतत्त्व का अयथार्थ अथवा भ्रान्त रूप ही प्रकट करता है। भारत के ही नही, पाश्चात्य विचारकों ने भी सत्य के जिज्ञासु को मिथ्या धारणाओं से परे रहने का संकेत किया है। पाश्चात्य दर्शन के नवयुग के प्रतिनिधि फ्रांसिस बेकन शुद्ध और निर्दोष ज्ञान की प्राप्ति के लिए मानस को निम्न चार मिथ्या धारणाओं से मुक्त रखने का निर्देश करते है। चार मिथ्या धारणाएँ ये है—

१. **जातिगत मिथ्या धारणाएँ** (Idola Tribius)—सामाजिक संस्कारों से प्राप्त मिथ्या धारणाएँ।

२. **व्यक्तिगत मिथ्या विश्वास** (Idola Specus)—व्यक्ति के द्वारा बनाई गई मिथ्या धारणाएँ (पूर्वाग्रह)।

३. **बाजारू मिथ्या विश्वास** (Idola Fori)—असंगत अर्थ आदि।

४. **रंगमंच की भ्रान्ति** (Idola Theatri)—मिथ्या सिद्धांत या मान्यताएँ।

वे कहते है इन मिथ्या विश्वासो (पूर्वाग्रहों) से मानस को मुक्त कर ही ज्ञान को यथार्थ और निर्दोष रूप मे ग्रहण करना चाहिए।[1]

जैन-दर्शन में अविद्या का स्वरूप—जैन-दर्शन मे अविद्या का पर्यायवाची शब्द 'मोह' भी है। मोह सत् के संबंध मे यथार्थ दृष्टि को विकृत कर गलत मार्ग-दर्शन करता है और असम्यक् आचरण के लिए प्रेरित करता है। परमार्थ और सत्य के सबंध मे जो अनेक भ्रान्त धारणाएँ बनती है और परिणामतः जो दुराचरण होता है उसका आधार मोह ही है। मिथ्यात्व, मोह या अविद्या के कारण व्यक्ति की दृष्टि दूषित होती है और परममूल्यों के संबंध मे भ्रान्त धारणाएँ बन जाती है। वह उन्हें ही परममूल्य मान लेता है, जो कि वस्तुतः परममूल्य या सर्वोच्च मूल्य नही होते है।

अविद्या और विद्या का अन्तर करते हुए समयसार मे आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो पुरुष अपने से अन्य पर-द्रव्य (सचित्त-स्त्रीपुत्रादि, अचित्त-स्वर्णरजतादि, मिश्र-ग्रामनगरादि) को ऐसा समझे कि 'मेरे है, ये मेरे पूर्व में थे इनका मैं भी पहले था तथा ये मेरे आगामी होंगे, मैं भी इनका आगामी होऊँगा' ऐसा झूठा आत्मविकल्प करता है वह मूढ है और जो पुरुष परमार्थ को जानता हुआ ऐसा झूठा विकल्प नहीं करता वह मूढ़ नहीं है, ज्ञानी है।[2]

१. हिस्ट्री आफ फिलासफी (थिली), पृ० २८७

२. समयसार, २०, २१, २२, तु० गीता १६।१३

जैन-दर्शन में अविद्या या मिथ्यात्व केवल आत्मनिष्ठ (Subjective) ही नहीं है, वरन् वह वस्तुनिष्ठ भी है। जैन-दर्शन मे मिथ्यात्व का अर्थ है—ज्ञान का अभाव या विपरीत ज्ञान। उसमें एकांत या निरपेक्ष दृष्टि को भी मिथ्यात्व कहा गया है। तत्त्व का सापेक्ष ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है और ऐकातिक दृष्टिकोण मिथ्याज्ञान है। दूसरे, जैन-दर्शन मे अकेला मिथ्यात्व ही बन्धन का कारण नही है। बन्धन का प्रमुख कारण होते हुए भी वह सर्वस्व नही है। मिथ्यादर्शन के कारण ज्ञान दूषित होता है और ज्ञान के दूषित होने से चारित्र दूषित होता है। इस प्रकार मिथ्यात्व अनैतिक जीवन का प्रारम्भिक बिन्दु है और अनैतिक आचरण उसकी अन्तिम परिणति है। नैतिक जीवन के लिए मिथ्यात्व से मुक्त होना आवश्यक है, क्योकि जब तक दृष्टि दूषित है ज्ञान भी दूषित होगा और जब तक ज्ञान दूषित है तब तक आचरण भी सम्यक् या नैतिक नही हो सकता। नैतिक जीवन की प्रगति के लिए प्रथम शर्त है मिथ्यात्व से मुक्त होना।

जैन-दार्शनिकों की दृष्टि मे मिथ्यात्व की पूर्व-कोटि का पता नही लगाया जा सकता, यद्यपि वह अनादि है किन्तु वह अनन्त नही। जैन-दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली मे कहे तो भव्य जीवो की अपेक्षा से मिथ्यात्व अनादि और सान्त है और अभव्य जीवों की अपेक्षा से वह अनादि और अनन्त है। आत्मा पर अविद्या या मिथ्यात्व का आवरण कबसे है, इसका पता नही लगाया जा सकता, यद्यपि अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति पायी जा सकती है। जैन-दर्शन मे मिथ्यात्व का मूल 'कर्म' और 'कर्म' का मूल मिथ्यात्व है। एक ओर मिथ्यात्व का कारण अनैतिकता है तो दूसरी ओर अनैतिकता का कारण मिथ्यात्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व का कारण नैतिकता और नैतिक का कारण सम्यक्त्व है। नैतिक आचरण के परिणामस्वरूप सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण का उद्भव होता है। सम्यक्त्व या यथार्थ दृष्टिकोण के कारण नैतिक आचरण होता है।

बौद्ध-दर्शन में अविद्या का स्वरूप—बौद्ध-दर्शन मे प्रतीत्यसमुत्पाद की प्रथम कड़ी अविद्या ही मानी गयी है। अविद्या से उत्पन्न व्यक्तित्व ही जीवन का मूलभूत पाप है। जन्म-मरण की परम्परा और दुःख का मूल अविद्या है। जैसे जैन-दर्शन मे मिथ्यात्व की पूर्वकोटि नहीं जानी जा सकती, वैसे ही बौद्ध-दर्शन मे भी अविद्या की पूर्वकोटि नही जानी जा सकती। यह एक ऐसी सत्ता है जिसे समझना कठिन है। हमे बिना अधिक गहराई मे गये इसके अस्तित्व को स्वीकार कर लेना होगा। उसमे अविद्या वर्तमान जीवन की अनिवार्य पूर्ववर्ती अवस्था है, इसके पूर्व कुछ नही, क्योकि जन्म-मरण की प्रक्रिया का कही आरम्भ नही खोजा जा सकता। लेकिन दूसरी ओर इसके अस्तित्व से इनकार भी नही किया जा सकता। स्वयं जीवन या जन्म-मरण की परम्परा इसका प्रमाण है कि अविद्या उपस्थित है। अविद्या का उद्भव कैसे होता है यह नही बताया जा सकता। अश्वघोष के अनुसार, "तथता" मे ही अविद्या का जन्म होता है।[1] डॉ० राधाकृष्णन्

१. उद्धृत-जैन स्टडीज, पृ० १३३

की दृष्टि में बौद्ध-दर्शन में अविद्या उस परम सत्ता, जिसे आलयविज्ञान, तथागतगर्भ, शून्यता, धर्मधातु एवं तथता कहा गया है, की वह शक्ति है जो विश्व के भीतर से व्यक्तिगत जीवनों की शृंखला को उत्पन्न करती है। यह यथार्थ सत्ता के ही अन्दर विद्यमान निषेधात्मक तत्त्व है। हमारी सीमित बुद्धि इसकी तह में इससे अधिक और प्रवेश नहीं कर सकती।[1]

सामान्यतया अविद्या का अर्थ चार आर्यसत्यों का ज्ञानाभाव है। माध्यमिक एवं विज्ञानवादी विचारकों के अनुसार इन्द्रियानुभूति के विषय—इस जगत् की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, यह परतंत्र एवं सापेक्ष है, इसे यथार्थ मान लेना ही अविद्या है। दूसरे शब्दों में अयथार्थ अनेकता को यथार्थ मान लेना ही अविद्या का कार्य है। इसी से वैयक्तिक अहं का प्रादुर्भाव होता है और यही तृष्णा का जन्म होता है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार भी अविद्या और तृष्णा (अनैतिकता) में पारस्परिक कार्य-कारण संबंध है। अविद्या के कारण तृष्णा और तृष्णा के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में मोह के दो रूप दर्शन-मोह और चारित्र-मोह है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में अविद्या के दो कार्य ज्ञेयावरण एवं क्लेशावरण है। ज्ञेयावरण की तुलना दर्शन-मोह से और क्लेशावरण की तुलना चारित्र-मोह से की जा सकती है। जिस प्रकार वैदिक परम्परा में माया को अनिर्वचनीय कहा गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में भी अविद्या सत् और असत् दोनों ही कोटियों से परे है। विज्ञानवाद एवं शून्यवाद के सम्प्रदायों की दृष्टि में नानारूपात्मक जगत् को परमार्थ मान लेना अविद्या है। मैत्रेयनाथ ने अभूतपरिकल्प (अनेकता का ज्ञान) का विवेचन करते हुए कहा कि उसे सत् और असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता। वह सत् इसलिए नहीं है क्योंकि परमार्थ में अनेकता या द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं है और वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके प्रहाण से निर्वाण का लाभ होता है।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्ध-दर्शन के परवर्ती सम्प्रदायों में अविद्या का स्वरूप बहुत-कुछ वेदान्तिक माया के समान बन गया है।

बौद्ध-दर्शन की अविद्या की समीक्षा—बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवादी और शून्यवादी सम्प्रदायों में अविद्या का जो स्वरूप निर्दिष्ट है वह आलोचना का विषय ही रहा है। विज्ञानवादी और शून्यवादी विचारक अपने निरपेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर इन्द्रियानुभूति के विषयों को अविद्या या वासना के काल्पनिक प्रत्यय मानते हैं। दूसरे, उनके अनुसार अविद्या आत्मनिष्ठ (Subjective) है। जैन दार्शनिकों ने उनकी इस मान्यता को अनुचित ही माना है, क्योंकि प्रथमतः अनुभव के विषयों को अनादि अविद्या के काल्पनिक प्रत्यय मानकर इन्द्रियानुभूति के ज्ञान को असत्य बताया गया है। जैन दार्शनिकों की दृष्टि में इन्द्रियानुभूति के विषयों को असत् नहीं माना जा सकता;

१. भारतीय दर्शन, पृ० ३८२-३८३
२. जैन स्टडीज, पृ० १३२-१३३ पर उद्धृत।

क्योंकि वे तर्क और अनुभव दोनों को ही यथार्थ मानकर चलते हैं। उनके अनुसार तार्किक ज्ञान (बौद्धिक ज्ञान) और अनुभूत्यात्मक ज्ञान दोनों ही यथार्थता का बोध करा सकते हैं। बौद्ध-दार्शनिकों की यह धारणा कि अविद्या केवल आत्मगत है, जैन-दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है। वे अविद्या का वस्तुगत आधार भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में बौद्ध दृष्टिकोण एकांगी है। बौद्ध-दर्शन की अविद्या की विस्तृत समीक्षा डॉ० नथमल टाटिया ने अपनी पुस्तक 'स्टडीज इन जैन फिलासफी' में की है।[1]

गीता एवं वेदान्त में अविद्या का स्वरूप—गीता में अविद्या, अज्ञान और माया शब्द का प्रयोग हुआ है। गीता में अज्ञान और माया का सामान्यतया दो भिन्न अर्थों में ही प्रयोग हुआ है। अज्ञान वैयक्तिक है और माया ईश्वरीय शक्ति है। गीता में अज्ञान का अर्थ परमात्मा के उस वास्तविक स्वरूप के ज्ञान का अभाव है जिस रूप में वह जगत् में व्याप्त होते हुए भी उससे परे है। गीता में अज्ञान शब्द विपरीत ज्ञान, मोह, अनेकता को यथार्थ मान लेना आदि अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान के सात्त्विक, राजस और तामस प्रकारों का विवेचन करते हुए गीता में स्पष्ट बताया गया है कि अनेकता को यथार्थ माननेवाला दृष्टिकोण या ज्ञान राजस है, इसी प्रकार यह मानना कि परमतत्त्व मात्र इतना ही है यह ज्ञान तामस है।[2] गीता में माया को व्यक्ति के दुःख एवं बन्धन का कारण कहा गया है, क्योंकि यह एक भ्रान्त आंशिक चेतना का पोषण करती है और उस रूप में पूर्ण यथार्थता का ग्रहण सम्भव नहीं होता। फिर भी माया ईश्वर की एक ऐसी कार्यकारी शक्ति भी है जिसके माध्यम से परमात्मा इस नाना-रूपात्मक जगत् में अपने को अभिव्यक्त करता है। वैयक्तिक दृष्टि से माया परमार्थ का आवरण कर व्यक्ति को उसके यथार्थ ज्ञान से वंचित करती है, जब कि परमसत्ता की अपेक्षा से वह उसकी एक शक्ति ही सिद्ध होती है।

वेदान्त-दर्शन में अविद्या का अर्थ अद्वय परमार्थ में अनेकता की कल्पना है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जो अद्वय में अनेकता का दर्शन करता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है।[3] इसके विपरीत अनेकता में एकता का दर्शन सच्चा ज्ञान है। ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है कि जो सभी को परमात्मा में और परमात्मा में सभी को स्थित देखता है उस एकत्वदर्शी को न विजुगुप्सा होती है और न उसे कोई मोह या शोक होता है।[4] वेदान्त परम्परा में अविद्या जगत् के प्रति आसक्ति एवं मिथ्या दृष्टिकोण है और माया एक ऐसी शक्ति है जिससे यह अनेकतामय जगत् अस्तित्ववान् प्रतीत होता है। माया इस नानारूपात्मक जगत् का आधार है और अविद्या हमें उससे बाँधे रखती है। वेदान्त-दर्शन में माया अद्वय अविकार्य परमसत्ता को जगत् के रूप में

१. विस्तृत विवेचन के लिए देखिए, जैन स्टडीज, पृ० १२६-१३७ एवं २०१-२१५
२. गीता १८।२१-२२
३. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।१९
४. ईशावास्योपनिषद्, ६–७

प्रतीति है। वेदान्त में माया न तो सत् है और न असत् है, उसे चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा गया है।[1] वह सत् इसलिए नहीं है कि उसका निरसन किया जा सकता है। वह असत् इसलिए नहीं है कि उसके आधार पर व्यवहार होता है। वेदान्त दर्शन में माया जगत् की व्याख्या और उसकी उत्पत्ति का सिद्धान्त है और अविद्या वैयक्तिक आसक्ति है।

वेदान्त की माया की समीक्षा—वेदान्त-दर्शन में माया एक अर्घ सत्य है जबकि तार्किक दृष्टि मे माया या तो सत्य हो सकती है या असत्य। जैन दार्शनिकों के अनुसार सत्य सापेक्ष अवश्य हो सकता है लेकिन अर्ध सत्य (Quasi-Real) ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती। यदि अद्वय परमार्थ को नानारूपात्मक मानना अविद्या है, तो जैन-दार्शनिकों को यह दृष्टिकोण स्वीकार नहीं है। यद्यपि जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ अविद्या की इस व्याख्या में एकमत हैं कि अविद्या या मोह का अर्थ है अनात्म या 'पर' में आत्म-बुद्धि।

उपसंहार—अज्ञान, अविद्या या मोह ही सम्यक् प्रगति में सबसे बड़ा अवरोध है। हमारे क्षुद्र व्यक्तित्व और परमात्मत्व के बीच सबसे बड़ी बाधा है। उसके हटते ही हम अपने को अपने में ही उपस्थित परमात्मा के निकट खड़ा पाते हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि इस अविद्या या मिथ्यात्व से मुक्ति कैसे हो? वस्तुतः अविद्या से मुक्ति के लिए यह आवश्यक नही कि हम अविद्या या अज्ञान को हटाने का प्रयत्न करें, क्योंकि उसके हटाने के सारे प्रयास वैसे ही निरर्थक होंगे जैसे कोई अंधकार को हटाने का प्रयत्न करे। जैसे प्रकाश के होते ही अंधकार समाप्त हो जाता है वैसे ही ज्ञान रूप प्रकाश या सम्यग्दृष्टि के उत्पन्न होते ही अज्ञान या अविद्या का अंधकार समाप्त हो जाता है। आवश्यकता इस बात की नहीं कि हम अविद्या या मिथ्यात्व को हटाने का प्रयत्न करें, वरन् आवश्यकता इस बात की है कि हम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की ज्योति को प्रज्ज्वलित करें ताकि अविद्या या अज्ञान का तामिस्र (अन्धकार) समाप्त हो जाय।

१. विवेकचूडामणि, माया-निरूपण, १११

जैन-परम्परा में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्त्व एवं सम्यक्-दृष्टि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। यद्यपि आचार्य जिनभद्र ने विशेषावश्यकभाष्य मे सम्यक्त्व और सम्यक्-दर्शन के भिन्न भिन्न अर्थों का निर्देश किया है।[1] सम्यक्त्व वह है जिसके कारण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्यक् बनते है। सम्यक्त्व का अर्थ-विस्तार सम्यक् दर्शन से अधिक व्यापक है, फिर भी सामान्यतया सम्यक् दर्शन और सम्यक्त्व शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं। वैसे सम्यग्दर्शन शब्द मे सम्यक्त्व निहित ही है।

सम्यक्त्व का अर्थ—सामान्य रूप में सम्यक् या सम्यक्त्व शब्द सत्यता या यथार्थता का परिचायक है, जिसे 'उचितता' भी कह सकते हैं। सम्यक्त्व का एक अर्थ तत्त्व-रुचि है।[2] इस अर्थ में सम्यक्त्व सत्याभिरुचि या सत्य की अभीप्सा है। उपर्युक्त दोनों अर्थों में सम्यक्-दर्शन या सम्यक्त्व नैतिक जीवन के लिए आवश्यक है। जैन नैतिकता का चरम आदर्श आत्मा के यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि है, लेकिन यथार्थ की उपलब्धि भी तो यथार्थ से सम्भव होती है। यदि हमारा साध्य 'यथार्थता' की उपलब्धि है, तो उसका साधन भी यथार्थ ही चाहिए। जैन-विचारणा साध्य और साधन की एकरूपता में विश्वास करती है। वह यह मानती है कि अनुचित साधन से प्राप्त किया गया लक्ष्य भी अनुचित ही है। सम्यक् को सम्यक् से ही प्राप्त करना होता है, असम्यक् से जो भी मिलता है या प्राप्त किया जाता है, वह भी असम्यक् ही होता है। अतः आत्मा के यथार्थ स्वरूप की प्राप्ति के लिये जिन साधनों का विधान किया गया, उनका सम्यक् होना आवश्यक माना गया। वस्तुतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र का नैतिक मूल्य उनके सम्यक् होने में है और तभी वे मुक्ति या निर्वाण के साधन बनते हैं। यदि ज्ञान, दर्शन और चारित्र मिथ्या होते हैं तो बन्धन का कारण बनते हैं। बन्धन-मुक्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र पर निर्भर नहीं, वरन् उनके सम्यक् और मिथ्यापन पर आधारित है।

आचार्य जिनभद्र के अनुसार यदि सम्यक्त्व का अर्थ तत्त्वरुचि या सत्याभीप्सा लेते हैं तो सम्यक्त्व का नैतिक साधना मे महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। नैतिकता की साधना आदर्शोन्मुख गति है, लेकिन जिसके कारण वह गति है, साधना है, वह तो सत्याभीप्सा ही है। साधक में जबतक सत्याभीप्सा या तत्त्व रुचि जागृत नहीं होती,

---

१. विशेषावश्यक भाष्य. १७८७-९० २. अभिधानराजेन्द्र. खण्ड ५. पृष्ठ २४२५

तबतक वह नैतिक प्रगति की ओर अग्रसर ही नही हो सकता। सत्य की प्यास ही ऐसा तत्त्व है जो साधक को साधना-मार्ग मे प्रेरित करता है, प्यासा ही पानी की खोज करता है, तत्त्व-रुचि या सत्याभीप्सा से युक्त व्यक्ति ही आदर्श की प्राप्ति के लिए साधना करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यक्त्व के दोनों अर्थो को समन्वित कर दिया गया है। ग्रंथकर्ता की दृष्टि मे यद्यपि सम्यक्त्व यथार्थता की अभिव्यक्ति करता है, लेकिन यथार्थता की जिससे उपलब्धि होती है उसके लिये सत्याभीप्सा या रुचि आवश्यक है।

दर्शन का अर्थ—''दर्शन शब्द भी जैनागमों में अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। जीवादि पदार्थों के स्वरूप देखना, जानना, श्रद्धा करना 'दर्शन' हैं।[1] सामान्यतया दर्शन शब्द देखने के अर्थ मे व्यवहृत होता है, लेकिन यहाँ दर्शन शब्द का अर्थ मात्र नेत्रजन्य बोध नही है। उसमे इन्द्रिय-बोध, मन-बोध और आत्म-बोध सभी सम्मिलित है। दर्शन शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे जैन-परम्परा में काफी विवाद रहा है। दर्शन को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[2] नैतिक जीवन की दृष्टि से विचार करने पर दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ किया गया है।[3] दर्शन शब्द के स्थान पर 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग, उसके दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। प्राचीन जैन आगमों में दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग अधिक मिलता है। तत्त्वार्थसूत्र[4] और उत्तराध्ययनसूत्र[5] में दर्शन शब्द का अर्थ 'तत्त्वश्रद्धा' है। परवर्ती जैन साहित्य मे दर्शन शब्द देव, गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है।[6] इस प्रकार जैन परम्परा मे सम्यक् दर्शन अपने मे तत्त्व-साक्षात्कार, आत्म-साक्षात्कार, अन्तर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अर्थो को समेटे हुए है। इन पर थोड़ी गहराई से विचार करना अपेक्षित है।

सम्यक्-दर्शन के विभिन्न अर्थ

सम्यक्-दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थो पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन-सा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और उसके पश्चात् किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ। प्रथमतः हम देखते है कि बुद्ध और महावीर के समय में प्रत्येक धर्म-प्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक्-दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्यादृष्टि कहता था। बौद्धागमों में ६२ मिथ्यादृष्टियों एवं जैनागम सूत्रकृतांग मे ३६३ मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख मिलता है। लेकिन वहा पर मिथ्यादृष्टि शब्द अश्रद्धा अथवा मिथ्या श्रद्धा के अर्थ मे नही, वरन्

१. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ५, पृ० २४२५
२. सम प्राब्लेम्स् इन जैन साइकोलाजी पृ० ३२
३. अभिधानराजेन्द्र, खण्ड ८, पृ० २५२५
४. तत्त्वार्थसूत्र १।२
५. उत्तराध्ययन, २८।३५
६. सामायिकसूत्र—सम्यक्त्व पाठ

गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। बाद मे जब यह प्रश्न उठा कि गलत दृष्टिकोण को किस सन्दर्भ मे माना जाय, तो कहा गया कि जीव (आत्मतत्त्व) और जगत् के सम्बन्ध मे जो गलत दृष्टिकोण है, वही मिथ्यादर्शन या मिथ्यादृष्टि है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि से तात्पर्य हुआ आत्मा और जगत् के विषय मे गलत दृष्टिकोण। उस युग में प्रत्येक धर्म प्रवर्तक आत्मा और जगत् के स्वरूप के विषय मे अपने दृष्टिकोण को सम्यक्-दृष्टि अथवा सम्यग्दर्शन तथा विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्या-दर्शन कहता था। बाद मे प्रत्येक सम्प्रदाय जीवन और जगत् सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण पर विश्वास करने को सम्यग्दृष्टि कहने लगा और जो लोग विपरीत मान्यता रखते थे उनको मिथ्यादृष्टि कहने लगा। इस प्रकार सम्यक्दर्शन शब्द तत्त्वार्थ (जीव और जगत् के स्वरूप के) श्रद्धान के अर्थ मे रूढ हुआ। लेकिन तत्त्वार्थश्रद्धान के अर्थ मे भी सम्यक्-दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नही हुआ था, यद्यपि उसकी भावनागत दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रविष्ट हो गया था; लेकिन वह श्रद्धा थी तत्त्व स्वरूप के प्रति। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी। श्रमण-परम्परा मे लम्बे समय तक सम्यग्दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ ही ग्राह्य रहा था जो बाद मे तत्त्वार्थश्रद्धान के रूप मे विकसित हुआ। यहाँ तक तो श्रद्धा मे बौद्धिक पक्ष निहित था, श्रद्धा ज्ञानात्मक थी। लेकिन जैसे-जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ, उसका प्रभाव जैन और बौद्ध श्रमण-परम्पराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ की श्रद्धा बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी और वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गयी। इसने जैन और बौद्ध परम्पराओ मे भक्ति के तत्त्व का वपन किया।[1] आगम एवं पिटक ग्रंथों के सकलन एवं लिपिबद्ध होने तक यह सब कुछ हो चुका था। अत. आगम और पिटक ग्रथो मे सम्यक्दर्शन के ये सभी अर्थ उपलब्ध होते है। वस्तुत सम्यक्-दर्शन का भाषा-शास्त्रीय विवेचन पर आधारित यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ ही उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है, लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र वीतराग पुरुष का ही हो सकता है। जहाँ तक व्यक्ति राग और द्वेष से युक्त है, उसका दृष्टिकोण यथार्थ नहीं हो सकता। इस प्रकार का सम्यक्-दर्शन या यथार्थ दृष्टिकोण तो साधनावस्था मे सम्भव नही है, क्योंकि साधना की अवस्था सराग अवस्था है। साधक आत्मा मे राग-द्वेष की उपस्थिति होती है, साधक तो साधना ही इसलिए कर रहा है कि वह इन दोनो से मुक्त हो। इस प्रकार यथार्थ दृष्टिकोण तो मात्र सिद्धावस्था में होगा। लेकिन यथार्थ दृष्टिकोण की आवश्यकता तो साधक के लिए है, सिद्ध को तो वह स्वाभाविक रूप में प्राप्त है। यथार्थ दृष्टिकोण के अभाव मे व्यक्ति का व्यवहार तथा साधना सम्यक् नही हो सकती। क्योंकि अयथार्थ दृष्टिकोण ज्ञान और जीवन के व्यवहार को सम्यक् नही बना सकता। यहाँ एक समस्या

१. देखिये, स्थानाग ५।२

उत्पन्न होती है कि यथार्थ दृष्टिकोण का साधानात्मक जीवन में अभाव होता है और बिना यथार्थ दृष्टिकोण के साधना हो नहीं सकती। यह समस्या एक ऐसी स्थिति में डाल देती है जहाँ हमें साधना-मार्ग की सम्भावना को ही अस्वीकृत करना होता है। यथार्थ दृष्टिकोण के बिना साधना सम्भव नहीं और यथार्थ दृष्टिकोण साधना-काल में हो नहीं सकता।

लेकिन इस धारणा में भ्रान्ति है। साधना-मार्ग के लिए या दृष्टिकोण की यथार्थता के लिए, दृष्टि का राग-द्वेष से पूर्ण विमुक्त होना आवश्यक नहीं है; मात्र इतना आवश्यक है कि व्यक्ति अयथार्थता और उसके कारण को जाने। ऐसा साधक यथार्थता को न जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि ही है, क्योंकि वह असत्य को असत्य मानता है और उसके कारण को जानता है। अतः वह भ्रान्त नहीं है, असत्य के कारण को जानने से वह उसका निराकरण कर सत्य को पा सकेगा। यद्यपि पूर्ण यथार्थ दृष्टि तो एक साधक में सम्भव नहीं है, फिर भी उसकी रागद्वेषात्मक वृत्तियों में जब स्वाभाविक रूप से कमी हो जाती है तो इस स्वाभाविक परिवर्तन के कारण उसे पूर्वानुभूति और पश्चानुभूति में अन्तर ज्ञात होता है और इस अन्तर के कारण के चिन्तन में उसे दो बातें मिल जाती हैं एक तो यह कि उसका दृष्टिकोण दूषित है और दूसरी यह कि उसकी दृष्टि की दूषितता का अमुक कारण है। यद्यपि यहाँ सत्य तो प्राप्त नहीं होता, लेकिन अपनी असत्यता और उसके कारण का बोध हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसमें सत्याभीप्सा जागृत हो जाती है। यही सत्याभीप्सा उस सत्य या यथार्थता के निकट पहुँचाती है और जितने अंश में वह यथार्थता के निकट पहुँचता है उतने ही अंश में उसका ज्ञान और चारित्र शुद्ध होता जाता है। ज्ञान और चारित्र की शुद्धता से पुनः राग और द्वेष में क्रमशः कमी होती है और उसके फलस्वरूप उसके दृष्टिकोण में और अधिक यथार्थता आ जाती है। इस प्रकार क्रमशः व्यक्ति स्वतः ही साधना की चरम स्थिति मे पहुँच जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है कि जल जैसे-जैसे स्वच्छ होता जाता है, त्यों-त्यों द्रष्टा उसमें प्रतिबिम्बित रूपों को स्पष्टतया देखने लगता है। उसी प्रकार अन्तर मे ज्यों-ज्यों मलिनता समाप्त होती है; तत्त्व-रुचि जाग्रत होती है, त्यों-त्यों तत्त्वज्ञान प्राप्त होता जाता है।[1] इसे जैन परिभाषा में प्रत्येक बुद्ध (स्वतः ही यथार्थता को जाननेवाले) का साधना-मार्ग कहते हैं।

लेकिन प्रत्येक सामान्य साधक यथार्थ दृष्टिकोण को इस प्रकार प्राप्त नहीं करता है, न उसके लिए यह सम्भव ही है; सत्य की स्वानुभूति का मार्ग कठिन है। सत्य को स्वयं जानने की विधि की अपेक्षा दूसरा सहज मार्ग यह है कि जिन्होंने स्वानुभूति से सत्य को जानकर उसका जो भी स्वरूप बताया है उसको स्वीकार कर लेना। इसे ही जैन शास्त्र-

१. आवश्यकनिर्युक्ति, ११६३

कारों ने तत्त्वार्थश्रद्धान कहा है अर्थात् यथार्थ दृष्टिकोण से युक्त वीतराग ने सत्ता का जो स्वरूप प्रकट किया है, उसे स्वीकार करना।

मान लीजिए, कोई व्यक्ति पित्त-विकार से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में वह किसी श्वेत वस्तु के यथार्थ ज्ञान से वंचित होगा। उसके लिए वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करने के दो मार्ग हो सकते हैं। पहला मार्ग यह कि उसकी बीमारी में स्वाभाविक रूप से जब कुछ कमी हो जावे और वह अपनी पूर्व और पश्चात् की अनुभूति मे अन्तर पाकर अपने रोग को जाने और प्रयास से रोग को शान्त कर वस्तु के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करे। दूसरी स्थिति में किसी चिकित्सक द्वारा यह बताया जाये कि वह पित्त-विकारों के कारण श्वेत वस्तु को पीत वर्ण की देख रहा है। यहाँ चिकित्सक की बात को स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपनी रुग्णावस्था अर्थात् अपनी दृष्टि की दूषितता का ज्ञान हो जाता है और साथ ही वह उसके वचनों पर श्रद्धा करके वस्तुतत्त्व को यथार्थ रूप में जान भी लेता है।

सम्यग्दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कहें या तत्त्वार्थश्रद्धान, उनमें वास्तविकता की दृष्टि से अन्तर नहीं है। अन्तर है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन करता है और वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। दूसरा वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्वके यथार्थ स्वरूप को जानता है। दोनों दशाओं में व्यक्ति का दृष्टिकोण यथार्थ ही कहा जायेगा, यद्यपि दोनों की उपलब्धि-विधि में अन्तर है। एक ने उसे तत्त्वसाक्षात्कार या स्वतः की अनुभूति में पाया तो दूसरे ने श्रद्धा के माध्यम से।

वस्तुतत्त्व के प्रति दृष्टिकोण की यथार्थता जिन माध्यमों मे प्राप्त की जा सकती है, वे दो हैं—या तो व्यक्ति स्वयं तत्त्व-साक्षात्कार करे अथवा उन ऋषियों के कथनों पर श्रद्धा करे जिन्होंने तत्त्व-साक्षात्कार किया है। तत्त्व-श्रद्धा तो मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विकल्प है जबतक साधक तत्त्वसाक्षात्कार नही कर लेता। अन्तिम स्थिति तो तत्त्वसाक्षात्कार की ही है। पं० सुखलालजी लिखते है, तत्त्वश्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं हैं, अन्तिम अर्थ तो तत्त्वसाक्षात्कार है। तत्त्व-श्रद्धा तो तत्त्व-साक्षात्कार का एक सोपान मात्र है, वह सोपान दृढ़ हो तभी यथोचित पुरुषार्थ से तत्त्व का साक्षात्कार होता है।[1]

जैन आचार दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान—सम्यग्दर्शन जैन आचार-व्यवस्था का आधार है। नन्दिसूत्र में सम्यग्दर्शन को संघरूपी सुमेरु पर्वत की अत्यन्त सुदृढ़ और गहन भूपीठिका (आधार-शिला) कहा गया है जिस पर ज्ञान और चारित्र रूपी उत्तम धर्म की मेखला अर्थात् पर्वतमाला स्थिर है।[2] जैन आचार में सम्यग्दर्शनको मुक्ति

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० २४ २. नन्दिसूत्र, १।१२

का अधिकार-पत्र कहा जा सकता है। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट कहा है कि सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक् ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान के अभाव में सदाचार नहीं आता और सदाचार के अभाव में कर्मावरण से मुक्ति सम्भव नहीं और कर्मावरण से जकड़े हुए प्राणी का निर्वाण नहीं होता।[१] आचारांगसूत्र में कहा है कि सम्यग्दृष्टि पापाचरण नहीं करता।[२] जैन विचारणा के अनुसार आचरण का सत् अथवा असत् होना कर्ता के दृष्टिकोण (दर्शन) पर निर्भर है सम्यक् दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव सत् होगा और मिथ्या दृष्टि से निष्पन्न आचरण सदैव असत् होगा। इसी आधार पर सूत्रकृतांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि व्यक्ति विद्वान् है, भाग्यवान् है और पराक्रमी भी है; लेकिन यदि उसका दृष्टिकोण असम्यक् है तो उसका दान, तप आदि समस्त पुरुषार्थ फलाकांक्षा से होने के कारण अशुद्ध ही होगा। वह उसे मुक्ति की ओर न ले जाकर बन्धन की ओर ही ले जावेगा। क्योंकि असम्यकदर्शी होने के कारण वह सराग दृष्टि वाला होगा और आसक्ति या फलाशा से निष्पन्न होने के कारण उसके सभी कार्य सकाम होंगे और सकाम होने से उसके बन्धन का कारण होंगे। अतः असम्यग्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ अशुद्ध ही कहा जायेगा, क्योंकि वह उसकी मुक्ति में बाधक होगा। लेकिन इसके विपरीत सम्यग्दृष्टि या वीतरागदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति के सभी कार्य फलाशा से रहित होने से शुद्ध होंगे। इस प्रकार जैन-विचारणा यह बताती है कि सम्यग्दर्शन के अभाव से विचार प्रवाह सराग, सकाम या फलाकांक्षा से युक्त होता है और यही कर्मों के प्रति रही हुई फलाकांक्षा बन्धन का कारण होने से पुरुषार्थ को अशुद्ध बना देती है जबकि सम्यक्दर्शन की उपस्थिति में विचार-प्रवाह वीतरागता, निष्कामता और अनासक्ति की ओर बढ़ता है फलाकांक्षा समाप्त हो जाती है, अतः सम्यग्दृष्टि का सारा पुरुषार्थ परिशुद्ध होता है।[3]

बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्थान—बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का क्या स्थान है, यह बुद्ध के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है। अंगुत्तरनिकाय में बुद्ध कहते हैं कि

"भिक्षुओं, मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नही जानता, जिससे अनुत्पन्न अकुशल-धर्म उत्पन्न होते हों तथा उत्पन्न अकुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं, मिथ्या-दृष्टि।

भिक्षुओं, मिथ्या-दृष्टि वाले में अनुत्पन्न अकुशल-धर्म पैदा हो जाते हैं। उत्पन्न अकुशल-धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।

भिक्षुओं, मैं दूसरी कोई भी एक बात ऐसी नहीं जानता जिससे अनुत्पन्न कुशल-धर्मों में वृद्धि होती हो, विपुलता होती हो, जैसे भिक्षुओं सम्यक्-दृष्टि।

भिक्षुओं, सम्यक्-दृष्टिवाले में अनुत्पन्न कुशल-धर्म उत्पन्न हो जाते हैं। उत्पन्न

---

१ उत्तराध्ययन, २८।३० २. आचारांग, १।३।२ ३. सूत्रकृतांग १।८।२२-२३

कुशल-धर्म वृद्धि को, विपुलता को प्राप्त हो जाते हैं।[1] इस प्रकार बुद्ध सम्यक्-दृष्टि को नैतिक जीवन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में मिथ्या दृष्टिकोण संसार का किनारा है और सम्यक्-दृष्टिकोण निर्वाण का किनारा है।[2] बुद्ध के ये वचन यह स्पष्ट कर देते हैं कि बौद्ध-दर्शन में सम्यक्-दृष्टि का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक परम्परा एवं गीता में सम्यक्-दर्शन (श्रद्धा) का स्थान—वैदिक परम्परा में भी सम्यक्-दर्शन को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सम्यक् दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को कर्म का बन्धन नहीं होता है लेकिन सम्यक्-दर्शन से विहीन व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[3]

गीता में यद्यपि सम्यक्-दर्शन शब्द का अभाव है, तथापि सम्यक् दर्शन को श्रद्धापरक अर्थ में लेने पर गीता में उसका महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध हो जाता है। श्रद्धा गीता के आचार-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्वों में से एक है। 'श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं' कह कर गीता ने उसका महत्त्व स्पष्ट कर दिया है। गीता यह भी स्वीकार करती है कि व्यक्ति की जैसी श्रद्धा होती है, उसका जीवन के प्रति जैसा दृष्टि-कोण होता है, वैसा ही वह बन जाता है।[4] गीता में श्रीकृष्ण ने यह कह कर सम्यक् दर्शन या श्रद्धा के महत्त्व को स्पष्ट कर दिया है कि यदि दुराचारी व्यक्ति भी मुझे भजता है अर्थात मेरे प्रति श्रद्धा रखता है तो उसे साधु ही समझो, क्योंकि वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर चिर शांति को प्राप्त हो जाता है।[5] गीता का यह कथन आचारांग के उस कथन से कि सम्यक्-दर्शी कोई पाप नहीं करता, काफी अधिक साम्य रखता है। आचार्य शंकर ने अपने गीताभाष्य में भी सम्यक्-दर्शन के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि सम्यक् दर्शन निष्ठ पुरुष संसार के बीजरूप अविद्या आदि दोषों का उन्मूलन नहीं कर सके ऐसा कदापि संभव नहीं हो सकता अर्थात् सम्यग्दर्शनयुक्त पुरुष निश्चितरूप से निर्वाण-लाभ करता है।[6] आचार्य शंकर के अनुसार जबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तबतक राग (विषयासक्ति) का उच्छेद नहीं होता और जबतक राग का उच्छेद नहीं होता, मुक्ति संभव नहीं।

सम्यक्दर्शन आध्यात्मिक जीवन का प्राण है। जिस प्रकार चेतनारहित शरीर शव है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति चलता-फिरता शव है। जैसे शव लोक में त्याज्य होता है, वैसे ही आध्यात्मिक जगत् में यह चल शव त्याज्य है।[7] वस्तुतः सम्यक्-दर्शन एक जीवन-दृष्टि है। बिना जीवन-दृष्टि के जीवन का कोई अर्थ नहीं रहता। व्यक्ति की जीवनदृष्टि जैसी होती है उसी रूप में उसके चरित्र का निर्माण होता है। गीता में कहा है कि व्यक्ति श्रद्धामय है, जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही वह बन जाता

१. अंगुत्तरनिकाय, १।१७ २. वही १०।१२ ३. मनुस्मृति, ६।७४
४. गीता, १७।३ ५. वही, ९।३०–३१ ६. गीता (शां०,) १८।१२
७. भावपाहुड, १४३

है।[1] असम्यक् जीवनदृष्टि पतन की ओर और सम्यक् जीवनदृष्टि उत्थान की ओर ले जाती है। इसलिए यथार्थ जीवनदृष्टि का निर्माण आवश्यक है। इसे ही भारतीय परम्परा में सम्यग्दर्शन या श्रद्धा कहा गया है।

यथार्थ जीवन-दृष्टि क्या है यदि इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो ज्ञात होता है कि समालोच्य सभी आचार-दर्शनों में अनासक्त एवं वीतराग जीवन दृष्टि को ही यथार्थ जीवन-दृष्टि माना गया है।

जैनधर्म में सम्यग्दर्शन का स्वरूप

सम्यक्त्व का दशविध वर्गीकरण उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन के, उसकी उत्पत्ति के आधार पर, दस भेद किये गये है, जो निम्नलिखित है :—

१. **निसर्ग (स्वभाव) रुचि**—जो यथार्थ दृष्टिकोण व्यक्ति में स्वतः ही उत्पन्न हो जाता है वह निसर्गरुचि सम्यक्त्व है।

२. **उपदेशरुचि**—वीतराग की वाणी (उपदेश) को सुनकर जो यथार्थ दृष्टिकोण या श्रद्धान होता है वह उपदेशरुचि सम्यक्त्व है।

३. **आज्ञारुचि**—वीतराग के नैतिक आदेशों को मान कर जो यथार्थ दृष्टिकोण उत्पन्न होता है अथवा तत्त्व-श्रद्धा होती है वह आज्ञारुचि सम्यक्त्व है।

४. **सूत्ररुचि**—अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर जो यथार्थ दृष्टिकोण या तत्त्व-श्रद्धान होता है, वह सूत्ररुचि सम्यक्त्व है।

५. **बीजरुचि**—यथार्थता के स्वल्प बोध को स्वचिन्तन के द्वारा विकसित करना बीजरुचि सम्यक्त्व है।

६. **अभिगमरुचि**—अंगसाहित्य एवं अन्य ग्रंथों का अर्थ एवं व्याख्या सहित अध्ययन करने से जो तत्त्वबोध एवं तत्त्व श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अभिगमरुचि सम्यक्त्व है।

७. **विस्ताररुचि**—वस्तुतत्त्व (षट्द्रव्यों) के अनेक पक्षों का विभिन्न अपेक्षाओं (दृष्टिकोणों) एवं प्रमाणों से अवबोध कर उनकी यथार्थता पर श्रद्धा करना विस्तार-रुचि सम्यक्त्व है।

८. **क्रियारुचि**—प्रारम्भिक रूप में साधक जीवन की विभिन्न क्रियाओं के आचरण में रुचि हो और उस साधनात्मक अनुष्ठान के फलस्वरूप यथार्थता का बोध हो, वह क्रियारुचि सम्यक्त्व है।

९. **संक्षेपरुचि**—जो वस्तु तत्त्व का यथार्थ स्वरूप नहीं जानता है और जो आर्हत् प्रवचन (ज्ञान) में प्रवीण भी नही है, लेकिन जिसने अयथार्थ (मिथ्या-

---

१. गीता, १७।३

दृष्टिकोण) को अंगीकृत भी नही किया, जिसमें यथार्थ ज्ञान की अल्पता होते हुए भी मिथ्या (असत्य) धारणा नही है, वह संक्षेप रुचि सम्यक्त्व है।

१०. **धर्मरुचि**—तीर्थंकर प्रणीत सत् के स्वरूप, आगम साहित्य एव नैतिक नियमों पर आस्तिक्य भाव या श्रद्धा रखना, उन्हे यथार्थ मानना धर्मरुचि सम्यक्त्व है।[1]

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण—[2]अपेक्षा भेद से सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण भी किया गया है। जैसे कारक, रोचक और दीपक।

१ **कारकसम्यक्त्व**—जिस यथार्थ दृष्टिकोण (सम्यक्त्व) के होने पर व्यक्ति सदाचरण या सम्यक्चारित्र की साधना मे अग्रसर होता है वह कारक सम्यक्त्व है। कारक सम्यक्त्व ऐसा यथार्थ दृष्टिकोण है, जिसमे व्यक्ति आदर्श की उपलब्धि के हेतु सक्रिय एवं प्रयासशील बन जाता है। नैतिक दृष्टि से कहे तो कारक सम्यक्त्व शुभाशुभ विवेक की वह अवस्था है, जिसमे व्यक्ति जिस शुभ का निश्चय करता है उसका आचरण भी करता है। यहाँ ज्ञान और क्रिया मे अभेद होता है। सुकरात का यह वचन कि 'ज्ञान ही सद्गुण है' इस अवस्था मे लागू होता है।

२. **रोचक सम्यक्त्व**—रोचक सम्यक्त्व सत्य-बोध की अवस्था है, जिसमे व्यक्ति शुभ को शुभ और अशुभ को अशुभ के रूप मे जानता है और शुभ-प्राप्ति की इच्छा भी करता है, लेकिन उसके लिए प्रयास नही करता। सत्यासत्य विवेक होने पर भी सत्य का आचरण नही कर पाना रोचक सम्यक्त्व है। जैसे कोई रोगी अपनी रुग्णावस्था एव उसके कारण को जानता है, रोग की औषधि भी जानता है और रोग से मुक्त होना भी चाहता है, लेकिन औषधि ग्रहण नही करता। वैसे ही रोचक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति ससार के दुखमय यथार्थ स्वरूप को जानता है, उससे मुक्त होना भी चाहता है, उसे मोक्ष-मार्ग का भी ज्ञान होता है, फिर भी वह सम्यक् चारित्र का पालन (चारित्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण) नही कर पाता। यह अवस्था महाभारत में दुर्योधन के उस वचन के तुल्य है, जिसमें कहा गया है कि धर्म को जानते हुए भी मेरी उसमे प्रवृत्ति नही होती और अधर्म को जानते हुए भी मेरी उससे निवृत्ति नही होती है।[3]

३ **दीपक सम्यक्त्व**—यह अवस्था है जिसमे व्यक्ति अपने उपदेश से दूसरो मे तत्त्व-जिज्ञासा उत्पन्न कर देता है और परिणामस्वरूप होनेवाले उनके यथार्थ बोध का कारण बनता है। दीपक सम्यक्त्व वाला व्यक्ति वह है जो दूसरो को सन्मार्ग पर लगा देने का कारण बन जाता है, लेकिन स्वयं कुमार्ग का ही पथिक बना रहता है। जैसे कोई नदी

१. उत्तराध्ययन, २८।१६ २. विशेषावश्यकभाष्य, २६७५
३. उद्धृत नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, पृ० ३६०

के तीर पर खड़ा व्यक्ति किसी मध्य नदी में थके हुए तैराक का उत्साहवर्धन कर उसे पार लगने का कारण बन जाता है, यद्यपि न तो स्वयं तैरना जानता है और न पार ही होता है।

सम्यक्त्व का त्रिविध वर्गीकरण एक अन्य प्रकार से भी किया गया है, जिसका आधार कर्म-प्रकृतियों का क्षयोपशम है। जैन विचारणा में अनन्तानुबंधी (तीव्रतम) क्रोध, मान, माया (कपट), लोभ तथा मिथ्यात्व मोह, मिश्र-मोह और सम्यक्त्व-मोह सात कर्म-प्रकृतियाँ सम्यक्त्व (यथार्थ बोध) की विरोधी है। इसमे सम्यक्त्व मोहनीय को छोड़ शेष छह कर्म प्रकृतियाँ उदय मे होती है तो सम्यक्त्व का प्रगटन नही हो पाता। सम्यक्त्व मोह मात्र सम्यक्त्व की निर्मलता और विशुद्धि में बाधक है। कर्म-प्रकृतियों की तीन स्थितियाँ है:—१. क्षय २ उपशम और ३ क्षयोपशम। इसी आधार पर सम्यक्त्व का यह वर्गीकरण किया गया है :—१ औपशमिक सम्यक्त्व २ क्षायिक सम्यक्त्व और ३. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व।

१. औपशमिक सम्यक्त्व—उपर्युक्त (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियो के उपशमित (दबाई हुई) होने पर जो सम्यक्त्व गुण प्रगट होता है वह औपशमिक सम्यक्त्व है। इसमे स्थायित्व का अभाव होता है। शास्त्रीय दृष्टि मे यह अन्तर्मुहूर्त (४८ मिनट) से अधिक नही टिकता। उपशमित कर्म-प्रकृतियाँ (वासनाएँ) पुन जागृत होकर इसे विनष्ट कर देती है।

२. क्षायिक सम्यक्त्व—उपर्युक्त सातो कर्म-प्रकृतियो के क्षय हो जाने पर जो सम्यक्त्व रूप यथार्थ बोध प्रकट होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह यथार्थ-बोध स्थायी होता है और एक बार प्रकट होने पर कभी नष्ट नही होता। शास्त्रीय भाषा मे यह सादि एवं अनन्त होता है।

३. क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—मिथ्यात्वजनक उदयगत (क्रियमाण) कर्म-प्रकृतियों के क्षय हो जाने पर और अनुदित (सत्तावान या सचित) कर्म-प्रकृतियों का उपशम हो जाने पर जो सम्यक्त्व प्रकट होता है वह क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से यह अस्थायी ही है, फिर भी एक लम्बी समयावधि (छाछठसागरोपम से कुछ अधिक) तक अवस्थित रह सकता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका मे सम्यक्त्व के रस का पान करने के पश्चात् जब साधक पुन मिथ्यात्व की ओर लौटता है तो लौटने की इस क्षणिक अवधि मे वान्त सम्यक्त्व का किंचित् संस्कार अवशिष्ट रहता है। जैसे वमन करते समय वमित पदार्थो का कुछ स्वाद आता है वैसे ही सम्यक्त्व को वान्त करते समय सम्यक्त्व का भी कुछ आस्वाद रहता है। जीव की ऐसी स्थिति **सास्वादन सम्यक्त्व** कहलाती है।

साथ ही जब जीव क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की भूमिका से क्षायिक सम्यक्त्व की प्रशस्त भूमिका पर आगे बढ़ता है और इस विकास-क्रम में जब वह सम्यक्त्व मोहनीय कर्म-प्रकृति के कर्म दलिकों का अनुभव कर रहा होता है, तो सम्यक्त्व की यह अवस्था **'वेदक सम्यक्त्व'** कहलाती है। वेदक सम्यक्त्व के अनन्तर जीव क्षायिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है।

वस्तुतः सास्वादन और वेदक सम्यक्त्व सम्यक्त्व की मध्यान्तर अवस्थाएँ हैं—पहली सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर गिरते समय और दूसरी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व से क्षायिक सम्यक्त्व की ओर बढ़ते समय होती है।

सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण—सम्यक्त्व का विश्लेषण अनेक अपेक्षाओं से किया गया है ताकि उसके विविध पहलुओं पर समुचित प्रकाश डाला जा सके। सम्यक्त्व का द्विविध वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है।

(अ) द्रव्य सम्यक्त्व और भाव सम्यक्त्व[1]

(१) **द्रव्य सम्यक्त्व**—विशुद्ध रूप में परिणत किये हुए मिथ्यात्व के कर्म-परमाणु द्रव्य-सम्यक्त्व है।

(२) **भाव-सम्यक्त्व**—उपर्युक्त विशुद्ध पुद्गल वर्गणा के निमित्त से होने वाली तत्त्व-श्रद्धा भाव-सम्यक्त्व है।

(ब) निश्चय-सम्यक्त्व और व्यवहार-सम्यक्त्व[2]

(१) **निश्चय सम्यक्त्व**—राग, द्वेष और मोह का अत्यल्प हो जाना, पर-पदार्थों से भेद ज्ञान एवं स्वस्वरूप में रमण, देह में रहते हुए देहाध्यास का छूट जाना, निश्चय सम्यक्त्व के लक्षण हैं। मेरा शुद्ध स्वरूप अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्द मय है। पर-भाव या आसक्ति ही बंधन का कारण है और स्वस्वभाव में रमण करना ही मोक्ष का हेतु है। मैं स्वयं ही अपना आदर्श हूं, देव, गुरु और धर्म मेरा आत्मा ही है। ऐसी दृढ़ श्रद्धा का होना ही निश्चय सम्यक्त्व है। आत्म-केन्द्रित होना यही निश्चय सम्यक्त्व है।

(२) **व्यवहार सम्यक्त्व**—वीतराग में देव बुद्धि (आदर्श बुद्धि), पाँच महाव्रतों का पालन करने वाले मुनियों में गुरु बुद्धि और जिन प्रणीत धर्म में सिद्धान्त बुद्धि रखना व्यवहार सम्यक्त्व है।

(स) निसर्गज सम्यक्त्व और अधिगमज सम्यक्त्व[3]

(१) **निसर्गज सम्यक्त्व**—जिस प्रकार नदी के प्रवाह में पड़ा हुआ पत्थर बिना प्रयास के ही स्वाभाविक रूप से गोल हो जाता है, उसी प्रकार संसार में भटकते हुए प्राणी को अनायास ही जब कर्मावरण के अल्प होने पर यथार्थता का बोध हो जाता है,

१.-२. प्रवचनसारोद्धार (टीका), १४९।९४२ ३. स्थानांगसूत्र, २।१।७०

तो ऐसा सत्य-बोध निसर्गज (प्राकृतिक) होता है। बिना किसी गुरु आदि के उपदेश के, स्वाभाविक रूप में स्वतः उत्पन्न होने वाला, सत्य-बोध निसर्गज सम्यक्त्व कहलाता है।

(२) **अधिगमज सम्यक्त्व**—गुरु आदि के उपदेश रूप निमित्त से होनेवाला सत्य-बोध या सम्यक्त्व अधिगमज सम्यक्त्व कहलाता है।

इस प्रकार जैन दार्शनिक न तो वेदान्त और मीमांसक दर्शन के अनुसार सत्य-पथ के नित्य प्रकटन को स्वीकार करते हैं और न न्याय वैशेषिक और योग दर्शन के समान यह मानते हैं कि सत्य-पथ का प्रकटन ईश्वर के द्वारा होता है। वे तो यह मानते हैं कि जीवात्मा मे सत्य बोध को प्राप्त करने की स्वाभाविक शक्ति है और वह बिना किसी दूसरे की सहायता के भी सत्य-पथ का बोध प्राप्त कर सकता है, यद्यपि किन्हीं विशिष्ट आत्माओ (सर्वज्ञ तीर्थंकर) द्वारा सत्य-पथ का प्रकटन एवं उपदेश भी किया जाता है।[1]

सम्यक्त्व के पांच अंग—सम्यक्त्व यथार्थता है, सत्य है। इस सत्य की साधना के लिए जैन विचारकों ने पाच अगो का विधान किया है। जब तक साधक इन्हे नही अपना लेता है, वह यथार्थ या सत्य की आराधना एवं उपलब्धि मे समर्थ नही हो पाता। सम्यक्त्व के वे पाच अग इस प्रकार है—

१. **सम**—सम्यक्त्व का पहला लक्षण है सम। प्राकृत भाषा के 'सम' शब्द के संस्कृत भाषा मे तीन रूप होते है—१ सम, २. शम, ३ श्रम। इन तीनो शब्दो के अनेक अर्थ होते हैं। 'सम' शब्द के दो अर्थ होते है—पहले अर्थ मे यह समानुभूति या तुल्यताबोध है अर्थात् सभी प्राणियो को अपने समान समझना। इस अर्थ मे यह 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त की स्थापना करता है जो अहिंसा का आधार है। दूसरे अर्थ मे इसे चित्तवृत्ति का समभाव कहा जा सकता है अर्थात् सुख-दुःख हानि-लाभ एव अनुकूल-प्रतिकूल दोनो स्थितियो मे समभाव रखना, चित्त को विचलित नहीं होने देना। सम चित्त-वृत्ति सतुलन है। संस्कृत 'शम्' के रूप के आधार पर इसका अर्थ होता है शांत करना अर्थात् कषायाग्नि या वासनाओ को शात करना। संस्कृत के तीसरे रूप 'श्रम' के आधार पर इसका निर्वचन होगा—सम्यक् 'प्रयास' या पुरुषार्थ।

२. **संवेग**—सवेग शब्द का शाब्दिक विश्लेषण करने पर उसका निम्न अर्थ ध्वनित होता है सम् + वेग, सम्-सम्यक् उचित, वेग-गति अर्थात् सम्यक् गति। सम् शब्द आत्मा के अर्थ मे भी आ सकता है। इस प्रकार इसका अर्थ होगा आत्मा की ओर गति। सामान्य अर्थ मे सवेग शब्द अनुभूति के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ इसका तात्पर्य होगा स्वानुभूति, आत्मानुभूति अथवा आत्मा के आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति। मनोविज्ञान मे आकाक्षा की तीव्रतम अवस्था को भी संवेग कहा जाता है। इस प्रसंग मे इसका अर्थ होगा सत्याभीप्सा अर्थात् सत्य को जानने की तीव्रतम आकांक्षा, क्योंकि

---

१. स्टडीज इन जैन फिलासफी, पृ० २६८

जिसमें सत्याभीप्सा होगी वही सत्य को पा सकेगा । सत्याभीप्सा से ही अज्ञान से ज्ञान की ओर प्रगति होती है । यही कारण है कि उत्तराध्ययनसूत्र मे संवेग का प्रतिफल बताते हुए महावीर कहते है कि संवेग से मिथ्यात्व (अयथार्थता) की विशुद्धि होकर यथार्थ दर्शन की उपलब्धि (आराधना) होती ह ।[1]

३. **निर्वेद**—निर्वेद शब्द का अर्थ है उदासीनता, वैराग्य, अनासक्ति । सासारिक प्रवृत्तियों के प्रति उदासीन भाव रखना, क्योंकि इसके अभाव मे साधना के मार्ग पर चलना सम्भव नही होता । वस्तुतः निर्वेद निष्काम-भावना या अनासक्त दृष्टि के विकास का आवश्यक अंग है ।

४. **अनुकम्पा**—इस शब्द का शाब्दिक निर्वचन इस प्रकार है अनु + कम्प । अनु का अर्थ है तदनुसार, कम्प का अर्थ है कम्पित होना अर्थात् किसी के अनुसार कम्पित होना । दूसरे शब्दो मे दूसरे व्यक्ति के दुःख मे पीडित होने पर तदनुकूल अनुभूति उत्पन्न होना ही अनुकम्पा है । वस्तुतः दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना ही अनुकम्पा है । परोपकार के नैतिक सिद्धान्त का आधार ही अनुकम्पा ह । इसे सहानुभूति भी कहा जा सकता है ।

५. **आस्तिक्य**—आस्तिक्य शब्द आस्तिकता का द्योतक ह । इसके मूल मे अस्ति शब्द है जो सत्ता का वाचक है । आस्तिक किसे कहा जाये, इस प्रश्न का उत्तर अनेक रूपो मे दिया गया है । कुछ ने कहा जो ईश्वर के अस्तित्व या सत्ता मे विश्वास करता है वह आस्तिक है, दूसरो ने कहा जो वेदो मे आस्था रखता ह वह आस्तिक है । लेकिन जैन विचारणा मे आस्तिक और नास्तिक के विभेद का आधार भिन्न है । जैन दर्शन के अनुसार जो पुण्य-पाप, पुनर्जन्म, कर्म-सिद्धान्त और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वह आस्तिक है ।

सम्यक्त्व के दूषण (अतिचार)—जैन-विचारको की दृष्टि म यथार्थता या सम्यक्त्व के पाँच दूषण (अतिचार) माने गये है जो सत्य या यथार्थता को अपने विशुद्ध स्वरूप से जानने अथवा अनुभूत करने में बाधक है । अतिचार वह दोष है जिसमे व्रत-भग तो नही होता लेकिन उसकी सम्यक्ता प्रभावित होती है—सम्यक् दृष्टिकोण की यथार्थता को प्रभावित करने वाले तीन दोष है—१ चल, २ मल और ३ अगाढ । चल दोष से तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अन्तःकरण मे तो यथार्थ दृष्टिकोण के प्रति दृढ रहता है, लेकिन कभी कभी क्षणिक रूप मे बाह्य आवेगो मे प्रभावित हो जाता ह । मल वे दोष है जो यथार्थ दृष्टिकोण की निर्मलता को प्रभावित करते है । मल पाच है :—

१. **शंका**—वीतराग या अर्हत् के कथनो पर शका करना उसकी यथार्थता के प्रति सदेहात्मक दृष्टिकोण रखना ।

---

१. उत्तराध्ययन, २९।१

२. **आकांक्षा**—स्वधर्म को छोड़कर पर-धर्म की इच्छा करना या आकांक्षा करना। नैतिक एवं धार्मिक आचरण के फल की कामना करना। नैतिक कर्मो की फलासक्ति भी साधना-मार्ग में बाधक तत्त्व मानी गयी है।

३. **विचिकित्सा**—नैतिक अथवा धार्मिक आचरण के फल के प्रति संशय करना अर्थात् सदाचरण का प्रतिफल मिलेगा या नहीं ऐसा संशय करना। जैन-विचारणा में नैतिक कर्मो की फलाकांक्षा एवं फल-संशय दोनों को ही अनुचित माना गया है। कुछ जैनाचार्यों के अनुसार इसका अर्थ घृणा भी है।[1] रोगी एवं ग्लान व्यक्तियों के प्रति घृणा रखना। घृणाभाव व्यक्ति को सेवापथ से विमुख बनाता है।

४. **मिथ्या दृष्टियों की प्रशंसा**—जिन लोगों का दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है ऐसे अयथार्थ दृष्टिकोणवाले व्यक्तियों अथवा संगठनों की प्रशंसा करना।

५. **मिथ्या दृष्टियों का अति परिचय**—साधनात्मक अथवा नैतिक जीवन के प्रति जिनका दृष्टिकोण अयथार्थ है ऐसे व्यक्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना। संगति का असर व्यक्ति के जीवन पर काफी अधिक होता है। चरित्र के निर्माण एवं पतन दोनों पर ही संगति का प्रभाव पड़ता है, अतः सदाचारी पुरुष का अनैतिक आचरण करने वाले लोगों से अति परिचय या घनिष्ठ सम्बन्ध रखना उचित नहीं माना गया है।

कविवर बनारसीदास जी ने नाटक समयसार में सम्यक्त्व के अतिचारों की एक भिन्न सूची प्रस्तुत की है। उनके अनुसार सम्यक् दर्शन के निम्न पाँच अतिचार है :— १. लोकभय, २. सांसारिक सुखों के प्रति आसक्ति, ३. भावी जीवन में सांसारिक सुखों के प्राप्त करने की इच्छा, ४. मिथ्याशास्त्रों की प्रशंसा एवं ५. मिथ्या-मतियों की सेवा।[2]

अगाढ़ दोष वह दोष है जिसमें अस्थिरता रहती है। जिस प्रकार हिलते हुए दर्पण में यथार्थ रूप तो दिखता है, लेकिन वह अस्थिर होता है। इसी प्रकार अस्थिर चित्त में सत्य प्रकट तो होता है, लेकिन अस्थिर रूप में। जैन-विचारणा के अनुसार उपर्युक्त दोषों की सम्भावना क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में होती है, उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व में नहीं होती, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व की समयावधि ही इतनी क्षणिक होती है कि दोष होने का समय नहीं रहता और क्षायिक सम्यक्त्व पूर्ण शुद्ध होता है, अतः वहाँ भी दोषों की सम्भावना नहीं रहती।

सम्यग्दर्शन के आठ दर्शनाचार—उत्तराध्ययनसूत्र में सम्यग्दर्शन की साधना के आठ अंगों का वर्णन है। दर्शन-विशुद्धि एवं उसके संवर्द्धन और संरक्षण के लिए इनका पालन आवश्यक है। आठ अंग इस प्रकार है :—

१. देखिये-गोम्मटसार-जीवकाण्ड गाथा २९ की अंग्रेजी टीका जे०एल० जैनी, पृष्ठ २२
२. नाटकसमयसार, १३।३८

(१) निश्शंकित, (२) निःकांक्षित, (३) निर्विचिकित्सा, (४) अमूढदृष्टि, (५) उपबृंहण, (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।[1]

(१) **निश्शंकता**—संशयशीलता का अभाव ही निश्शंकता है। जिन-प्रणीत तत्त्व दर्शन में शंका नहीं करना, उसे यथार्थ एवं सत्य मानना ही निश्शंकता है।[2] संशयशीलता साधना की दृष्टि में विघातक तत्त्व है। जिस साधक की मन स्थिति संशय के हिंडोले में झूल रही हो वह इस संसार में झूलता रहता है (परिभ्रमण करता रहता है) और अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। साधना के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साध्य, साधक और साधना-पथ तीनों पर अविचल श्रद्धा होनी चाहिए। साधक में जिस क्षण भी इन तीनों में से एक के प्रति भी संदेह उत्पन्न होता है, वह साधना से च्युत हो जाता है यही कारण है कि जैन साधना निश्शंकता को आवश्यक मानती है। निश्शंकता की इस धारणा को प्रज्ञा और तर्क की विरोधी नहीं मानना चाहिए। संशय ज्ञान के विकास में साधन हो सकता है, लेकिन उसे साध्य मान लेना अथवा संशय में ही रुक जाना साधक के लिए उपयुक्त नहीं है मूलाचार में निश्शंकता को निर्भयता माना गया है।[3] नैतिकता के लिए पूर्ण निर्भय जीवन आवश्यक है। भय पर स्थित नैतिकता सच्ची नैतिकता नहीं है।

(२) **निष्कांक्षता**—स्वकीय आनन्दमय परमात्मस्वरूप में निष्ठावान् रहना और किसी भी पर-भाव की आकांक्षा या इच्छा नहीं करना निष्कांक्षता है। साधनात्मक जीवन में भौतिक वैभव, ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को लक्ष्य बनाना ही जैन दर्शन के अनुसार "कांक्षा" है।[4] किसी भी लौकिक और पारलौकिक कामना को लेकर साधनात्मक जीवन में प्रविष्ट होना जैन विचारणा को मान्य नहीं है। वह ऐसी साधना को वास्तविक साधना नहीं कहती है, क्योंकि वह आत्म-केन्द्रित नहीं है। भौतिक सुखों और उपलब्धियों के पीछे भागनेवाला साधक चमत्कार और प्रलोभन के पीछे किसी भी क्षण लक्ष्यच्युत हो सकता है। इस प्रकार जैन-साधना में यह माना गया है कि साधक को साधना के क्षेत्र में प्रविष्ट होने के लिए निष्कांक्षित अथवा निष्कामभाव से युक्त होना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निष्कांक्षता का अर्थ—'एकान्तिक मान्यताओं से दूर रहना' किया है।[5] इस आधार पर अनाग्रह युक्त दृष्टिकोण सम्यक्त्व के लिए आवश्यक है।

(३) **निर्विचिकित्सा**—विचिकित्सा के दो अर्थ हैं :—

(अ) मैं जो धर्म-क्रिया या साधना कर रहा हूँ इसका फल मुझे मिलेगा या नहीं, मेरी यह साधना व्यर्थ तो नहीं चली जावेगी, ऐसी आशंका रखना "विचिकित्सा"

१. उत्तराध्ययन, २८।३१
२. आचारांग, १।५।५।१६३
३. मूलाचार, २।५२-५३
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १२
५. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय २३

कहलाती है। इस प्रकार साधना अथवा नैतिक क्रिया के फल के प्रति शंकाकुल बने रहना विचिकित्सा है। शंकालु हृदय साधक में स्थिरता और धैर्य का अभाव होता है और उसकी साधना सफल नहीं हो पाती। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह इस प्रतीति के साथ नैतिक आचरण का प्रारम्भ करे कि क्रिया और फल का अविनाभावी सम्बन्ध है और यदि नैतिक आचरण किया जावेगा तो निश्चित रूप से उसका फल होगा ही। इस प्रकार क्रिया के फल के प्रति सन्देह न होना ही निर्विचिकित्सा है।

(ब) कुछ जैनाचार्यों के अनुसार तपस्वी एवं संयमपरायण मुनियों के दुर्बल, जर्जर शरीर अथवा मलिन वेशभूषा को देखकर मन में ग्लानि लाना विचिकित्सा है, अतः साधक की वेशभूषा एवं शरीरादि बाह्य रूप पर ध्यान न देकर उसके साधनात्मक गुणों पर विचार करना चाहिए। वेशभूषा एवं शरीर आदि बाह्य सौन्दर्य पर दृष्टि को केन्द्रित न करके उसे आत्म-सौन्दर्य पर केन्द्रित करना ही सच्ची निर्विचिकित्सा है। आचार्य समन्तभद्र का कथन है, शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है, उसकी पवित्रता तो सम्यग्-ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय के सदाचरण से ही है अतएव गुणीजनों के शरीर से घृणा न कर उसके गुणों से प्रेम करना निर्विचिकित्सा है।[1]

४. **अमूढदृष्टि**—मूढ़ता अर्थात् अज्ञान। हेय और उपादेय, योग्य और अयोग्य के मध्य निर्णायक क्षमता का अभाव ही मूढ़ता है। मूढ़ताएँ तीन प्रकार हैं—१. देवमूढ़ता, २. लोकमूढ़ता, ३. समयमूढता।

(अ) **देवमूढ़ता**—साधना का आदर्श कौन है? उपास्य बनने की क्षमता किसमें है? ऐसे निर्णायक ज्ञान का अभाव ही देवमूढ़ता है, इसके कारण साधक गलत आदर्श और उपास्य का चयन कर लेता है। जिसमें उपास्य अथवा साधना का आदर्श बनने की योग्यता नहीं है उसे उपास्य बना लेना देवमूढ़ता है। काम-क्रोधादि आत्म-विकारों के पूर्ण विजेता, वीतराग एवं अविकल ज्ञान और दर्शन से युक्त परमात्मा को ही अपना उपास्य और आदर्श बनाना ही देव के प्रति अमूढदृष्टि है।

(ब) **लोकमूढ़ता**—लोक-प्रवाह और रूढ़ियों का अन्धानुकरण ही लोकमूढ़ता है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं कि 'नदियों एवं सागर में स्नान करने से आत्मा की शुद्धि मानना, पत्थरों का ढेर कर उससे मुक्ति समझना अथवा पर्वत से गिरकर या अग्नि में जलकर प्राण-विसर्जन करना आदि लोकमूढ़ताएँ हैं।[2]

(स) **समयमूढ़ता**—समय का अर्थ सिद्धान्त या शास्त्र भी है। इस अर्थ में सैद्धान्तिक ज्ञान या शास्त्रीय ज्ञान का अभाव समय-मूढ़ता है।

५. **उपबृंहण**—बृहि धातु के साथ उप उपसर्ग लगाने से उपबृंहण शब्द निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है वृद्धि करना, पोषण करना। अपने आध्यात्मिक गुणों का विकास

---

१. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, २३   २. वही, २२

करना ही उपबृंहण है।[1] सम्यक् आचरण करनेवाले गुणीजनों की प्रशंसा आदि करके उनके सम्यक् आचरण में योग देना उपबृंहण है।

(६) **स्थिरीकरण**—कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं जब साधक भौतिक प्रलोभन एवं साधनासम्बन्धी कठिनाइयों के कारण पथच्युत हो जाता है। अतः ऐसे अवसरों पर स्वयं को पथच्युत होने से बचाना और पथच्युत साधको को धर्म-मार्ग में स्थिर करना स्थिरीकरण है। सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधको को न केवल अपने विकास की चिन्ता करनी होती है वरन् उनका यह भी कर्तव्य है कि वह ऐसे साधको को जो धर्म-मार्ग में विचलित या पतित हो गये हैं उन्हें धर्म-मार्ग में स्थिर करे। जैन-दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति या समाज की भौतिक सेवा सच्ची सेवा नही है, सच्ची सेवा तो है उसे धर्म-मार्ग में स्थिर करना। जैनाचार्यो का कथन है कि व्यक्ति अपने शरीर के चमड़े के जूते बनाकर अपने माता-पिता को पहिनावे अर्थात् उनके प्रति इतना अधिक आत्मोत्सर्ग का भाव रखे तो भी वह उनके ऋण से उऋण नही हो सकता। वह माता-पिता के ऋण से उऋण तभी माना जाता है जब वह उन्हें मार्ग में स्थिर करता है। दूसरे शब्दों में उनकी साधना में सहयोग देता है। अतः धर्म-मार्ग से च्युत होनेवाले व्यक्तियों को धर्म-मार्ग में पुनः स्थिर करना साधक का कर्तव्य माना गया है। पतन दो प्रकार का है :—१. दर्शन विकृति अर्थात् दृष्टिकोण की विकृति और २ चारित्र विकृति अर्थात् धर्म-मार्ग से च्युत होना। दोनों ही स्थितियों में उसे यथोचित बोध देकर स्थिर करना चाहिए।[2]

(७) **वात्सल्य**—धर्म का आचरण करनेवाले समान गुण-शील साथियों के प्रति प्रेमभाव रखना वात्सल्य है। आचार्य समन्तभद्र कहते हैं 'स्वधर्मियों एवं गुणियों के प्रति निष्कपट भाव से प्रीति रखना और उनकी यथोचित सेवा-शुश्रूषा करना वात्सल्य है।[3] वात्सल्य में मात्र समर्पण और प्रपत्ति का भाव होता है। वात्सल्य धर्म-शासन के प्रति अनुराग है। वात्सल्य का प्रतीक गाय और गोवत्स (बछड़ा) का प्रेम है। जिस प्रकार गाय बिना किसी प्रतिफल की अपेक्षा के बछड़े को सकट में देखकर अपने प्राणों को भी जोखिम में डाल देती है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि साधक का भी यह कर्तव्य है कि वह धार्मिकजनो के सहयोग और सहकार के लिए कुछ भी उठा न रखे। वात्सल्य संघ-धर्म या सामाजिक भावना का केन्द्रीय तत्त्व है।

(८) **प्रभावना**—साधना के क्षेत्र में स्व-पर कल्याण की भावना होती है। जैसे पुष्प अपनी सुवास से स्वयं भी सुवासित होता है और दूसरो को भी सुवासित करता है वैसे ही साधक सदाचरण और ज्ञान की सौरभ से स्वयं भी सुरभित होता है और जगत्

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, २७

२. वही, २८ ३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, १७

को भी सुरभित करता है। साधना, सदाचरण और ज्ञान की सुरभि द्वारा जगत् के अन्य प्राणियों को धर्म-मार्ग की ओर आकर्षित करना ही प्रभावना है।[1] प्रभावना आठ प्रकार की है :—(१) प्रवचन, (२) धर्म-कथा, (३) वाद, (४) नैमित्तिक, (५) तप, (६) विद्या, (७) प्रसिद्ध व्रत ग्रहण करना और (८) कवित्वशक्ति।

सम्यग्दर्शन की साधना के छह स्थान—जिस प्रकार बौद्ध-साधना के अनुसार 'दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख से निवृत्ति हो सकती है और दुःखनिवृत्ति का मार्ग है' इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है, उसी प्रकार जैन-साधना के अनुसार षट् स्थानकों[2] (छह बातों) की स्वीकृति सम्यग्दृष्टि है—(१) आत्मा है, (२) आत्मा नित्य है, (३) आत्मा अपने कर्मों का कर्ता है, (४) आत्मा कृत कर्मों के फल का भोक्ता है, (५) आत्मा मुक्ति प्राप्त कर सकता है और (६) मुक्ति का उपाय (मार्ग) है।

जैन तत्त्व-विचारणा के अनुसार इन षट्स्थानकों पर दृढ़ प्रतीति सम्यग्दर्शन की साधना का आवश्यक अंग है। दृष्टिकोण की विशुद्धता एवं सदाचार दोनों ही इन पर निर्भर हैं; ये षट्स्थानक जैन-नैतिकता के केन्द्र बिन्दु हैं।

बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दर्शन का स्वरूप—बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दर्शन के सामानार्थी सम्यग्दृष्टि, सम्यक्समाधि, श्रद्धा एवं चित्त शब्द मिलते हैं। बुद्ध ने अपने त्रिविध साधना-मार्ग में कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा, कहीं शील, चित्त और प्रज्ञा और कहीं शील, श्रद्धा और प्रज्ञा का विवेचन किया है। बौद्ध-परम्परा में समाधि, चित्त और श्रद्धा का प्रयोग सामान्यतया एक ही अर्थ में हुआ है। वस्तुतः श्रद्धा चित्त-विकल्प की शून्यता की ओर ही ले जाती है। श्रद्धा के उत्पन्न हो जाने पर विकल्प समाप्त हो जाते हैं। उसी प्रकार समाधि की अवस्था में भी चित्त-विकल्पों की शून्यता होती है, अतः दोनों को एक ही माना जा सकता है। श्रद्धा और समाधि दोनों ही चित्त की अवस्थाएँ हैं, अतः उनके स्थान पर चित्त का प्रयोग भी किया गया है। क्योंकि चित्त की एकाग्रता ही समाधि है और चित्त की भावपूर्ण अवस्था ही श्रद्धा है। अतः चित्त, समाधि और श्रद्धा एक ही अर्थ को अभिव्यक्ति करते हैं। यद्यपि अपेक्षा-भेद से इनके अर्थों में भिन्नता भी है। श्रद्धाबुद्ध, संघ और धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा है तो समाधि चित्त की शान्त अवस्था है।

बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दर्शन का अर्थ-साम्य बहुत कुछ सम्यग्दृष्टि में है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन तत्त्व-श्रद्धा है उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में सम्यग्दृष्टि चार आर्य सत्यों के प्रति श्रद्धा है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन का अर्थ देव,

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३०

२. आत्मा छे, ते नित्य छे, छे कर्ता निजकर्म।
छे भोक्ता वणी मोक्ष छे, मोक्ष उपाय सुधर्म ॥—आत्मसिद्धिशास्त्र, पृष्ठ ४१

गुरु और धर्म के प्रति निष्ठा माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में श्रद्धा का अर्थ बुद्ध, संघ और धर्म के प्रति निष्ठा है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में देव के रूप में अरहंत को साधना का आदर्श माना गया है, उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा में साधना के आदर्श के रूप में बुद्ध और बुद्धत्व मान्य हैं। साधना-मार्ग के रूप में दोनों ही धर्म के प्रति निष्ठा को आवश्यक मानते हैं। जहाँ तक साधना के पथ-प्रदर्शक का प्रश्न है, जैन-परम्परा में पथ-प्रदर्शक के रूप में गुरु को स्वीकार किया गया है, जबकि बौद्ध-परम्परा उसके स्थान पर संघ को स्वीकार करती है।

जैन-दर्शन में सम्यग्दर्शन के दृष्टिकोणपरक और श्रद्धापरक ऐसे दो अर्थ स्वीकृत रहे हैं। जबकि बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा और सम्यग्दृष्टि ये दो भिन्न तथ्य माने गये हैं। फिर भी दोनों समवेत रूप में जैन-दर्शन के सम्यग्दर्शन के अर्थ की अवधारणा को बौद्ध-दर्शन में भी प्रस्तुत कर देते हैं।

बौद्ध-परम्परा में सम्यग्दृष्टि का अर्थ दुःख, दुःख के कारण, दुःख निवृत्ति का मार्ग और दुःख-विमुक्ति इन चार आर्य-सत्यों की स्वीकृति है। जिस प्रकार जैन-दर्शन में वह जीवादि नव तत्त्वों का श्रद्धान है, उसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में वह चार आर्य-सत्यों का श्रद्धान है।

यदि हम सम्यग्दर्शन को तत्त्वदृष्टि या तत्त्व-श्रद्धान से भिन्न श्रद्धापरक अर्थ में लेते हैं तो बौद्ध-परम्परा में उसकी तुलना श्रद्धा से की जा सकती है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा पाँच इन्द्रियों में प्रथम इन्द्रिय, पाँच बलों में अन्तिम बल और स्रोतापन्न अवस्था का प्रथम अंग मानी गई है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा का अर्थ चित्त की प्रसादमयी अवस्था है। जब श्रद्धा चित्त में उत्पन्न होती है तो वह चित्त को प्रीति और प्रमोद से भर देती है और चित्तमलों को नष्ट कर देती है। बौद्ध-परम्परा में श्रद्धा अन्धविश्वास नहीं, वरन् एक बुद्धि-सम्मत अनुभव है। यह विश्वास करना नहीं, वरन् साक्षात्कार के पश्चात् उत्पन्न तत्त्व-निष्ठा है। बुद्ध एक ओर यह मानते हैं कि धर्म का ग्रहण स्वयं के द्वारा जानकर ही करना चाहिए। समग्र कालामसुत्त में उन्होंने इसे सविस्तार स्पष्ट किया है। दूसरी ओर वे यह भी आवश्यक समझते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति निष्ठावान् रहे। बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करके चलते हैं। मज्झिमनिकाय में बुद्ध यह स्पष्ट कर देते हैं कि समीक्षा के द्वारा ही उचित प्रतीत होने पर धर्म को ग्रहण करना चाहिए।[1] विवेक और समीक्षा सदैव ही बुद्ध को स्वीकृत रहे हैं। बुद्ध कहते थे कि भिक्षुओं, क्या तुम शास्ता के गौरव से तो 'हाँ' नहीं कह रहे हो? भिक्षुओं, जो तुम्हारा अपना देखा हुआ, अपना अनुभव किया हुआ है क्या उसी को तुम कह रहे हो?[2] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा को प्रज्ञा से समन्वित करते हैं। सामान्यतया बौद्ध-दर्शन

१. मज्झिमनिकाय, १।५।७ २. वही, १।४।८

मे श्रद्धा को प्रथम और प्रज्ञा को अन्तिम स्थान दिया गया है। साधनामार्ग की दृष्टि से श्रद्धा पहले आती है और प्रज्ञा उसके पश्चात् उत्पन्न होती है। श्रद्धा के कारण ही धर्म का श्रवण, ग्रहण, परीक्षण और वीर्यारम्भ होता है। नैतिक जीवन के लिए श्रद्धा कैसे आवश्यक होती है, इसका सुन्दर चित्रण बौद्ध-परम्परा के सौन्दरनन्द नामक ग्रन्थ मे मिलता है। उसमे बुद्ध नन्द के प्रति कहते है कि पृथ्वी के भीतर जल है यह श्रद्धा जब मनुष्य को होती है तब प्रयोजन होने पर पृथ्वी को प्रयत्नपूर्वक खोदता है। भूमि से अन्न की उत्पत्ति होती है, यदि यह श्रद्धा कृषक मे न हो तो वह भूमि मे बीज ही नही डालेगा। धर्म की उत्पत्ति मे यही श्रद्धा उत्तम कारण है। जब तक मनुष्य तत्त्व को देख या सुन नही लेता, तब तक उसकी श्रद्धा स्थिर नही होती। साधना के क्षेत्र मे प्रथम अवस्था मे श्रद्धा एक परिकल्पना के रूप मे ग्रहण होती है और वही अन्त मे तत्त्व-साक्षात्कार बन जाती है। बुद्ध ने श्रद्धा और प्रज्ञा अथवा दूसरे शब्दो मे जीवन के बौद्धिक और भावात्मक पक्षो मे समन्वय किया है। यह ऐसा समन्वय है जिसमे न तो श्रद्धा अन्धश्रद्धा बनती है और न प्रज्ञा केवल बौद्धिक या तर्कात्मक ज्ञान बन कर रह जाती है।

जिस प्रकार जैन-दर्शन मे सम्यग्दर्शन के शका, आकाक्षा, विचिकित्सा आदि दोष है उसी प्रकार बौद्ध-परम्परा मे भी पांच नीवरण माने गये है। वे इस प्रकार है :— १ कामच्छन्द (कामभोगो की चाह), २. अव्यापाद (अविहिसा), ३. स्त्यानमृद्ध (मानसिक और चैतसिक आलस्य), ४ औद्धत्य-कौकृत्य (चित्त की चंचलता) और ५. विचिकित्सा (शका)।[1] तुलनात्मक दृष्टि से देखे तो बौद्ध-परम्परा का कामच्छन्द जैन-परम्परा के काक्षा नामक अतिचार के समान है। इसी प्रकार विचिकित्सा भी दोनो दर्शनो मे स्वीकृत है। जैन-परम्परा मे सशय और विचिकित्सा दोनो अलग-अलग माने गये है, लेकिन बौद्ध-परम्परा दोनो का अन्तर्भाव एक मे ही कर देती है। इस प्रकार कुछ सामान्य मतभेदो को छोड कर जैन और बौद्ध दृष्टिकोण एक-दूसरे के निकट ही आते है।

गीता में श्रद्धा का स्वरूप एवं वर्गीकरण—गीता मे सम्यग्दर्शन के स्थान पर श्रद्धा का प्रत्यय ग्राह्य है। जैन-परम्परा मे सामान्यतया सम्यग्दर्शन दृष्टिपरक अर्थ मे स्वीकार हुआ है और अधिक से अधिक उसमे यदि श्रद्धा का तत्त्व समाहित है तो वह तत्त्व श्रद्धा ही है। लेकिन गीता मे श्रद्धा शब्द का अर्थ प्रमुख रूप से ईश्वर के प्रति अनन्य-निष्ठा ही माना गया है, अत. गीता मे श्रद्धा के स्वरूप पर विचार करते समय यह ध्यान मे रखना चाहिए कि जैन-दर्शन मे श्रद्धा का जो अर्थ है वह गीता मे नही है।

यद्यपि गीता यह स्वीकार करती है कि नैतिक जीवन के लिए संशयरहित होना

१. विसुद्धिमग्ग, भाग १ पृ० ५१ (हिन्दी अनुवाद)

आवश्यक हैं। श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दान आदि सभी नैतिक कर्म निरर्थक माने गये हैं।[1] गीता में श्रद्धा तीन प्रकार की वर्णित है—१. सात्विक, २. राजस और ३. तामस। सात्विक श्रद्धा सत्वगुण से उत्पन्न होकर देवताओं के प्रति होती है। राजस श्रद्धा यज्ञ और राक्षसों के प्रति होती है, इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। तामस श्रद्धा भूत-प्रेत आदि के प्रति होती है।[2]

जैसे जैन-दर्शन में संदेह सम्यग्दर्शन का दोष है, वैसे ही गीता में भी संशयात्मकता दोष है।[3] जिस प्रकार जैन-दर्शन में फलाकांक्षा सम्यग्दर्शन का अतिचार (दोष) मानी गई है, उसी प्रकार गीता में भी फलाकांक्षा को नैतिक जीवन का दोष माना गया है। गीता के अनुसार जो फलाकांक्षा से युक्त होकर श्रद्धा रखता है अथवा भक्ति करता है वह साधक निम्न कोटि का ही है। फलाकांक्षायुक्त श्रद्धा व्यक्ति को आध्यात्मिक प्रगति की दृष्टि से आगे नहीं ले जाती। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'जो लोग विवेक-ज्ञान से रहित होकर तथा भोगों की प्राप्ति विषयक कामनाओं से युक्त हो मुझ परमात्मा को छोड़ देवताओं की शरण ग्रहण करते हैं, मैं उन लोगों की श्रद्धा उनमें स्थिर कर देता हूँ और उस श्रद्धा से युक्त होकर वे उन देवताओं की आराधना के द्वारा अपनी कामनाओं की पूर्ति करते हैं। लेकिन उन अल्प-बुद्धि लोगों का वह फल नाशवान् होता है। देवताओं का पूजन करने वाले देवताओं को प्राप्त होते हैं, लेकिन मुझ परमात्मा की भक्ति करनेवाला मुझे ही प्राप्त होता है।[4]

गीता में श्रद्धा या भक्ति चार प्रकार की कही गई है—(१) ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् होने वाली श्रद्धा या भक्ति—परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् उनके प्रति जो निष्ठा होती है वह, एक ज्ञानी की निष्ठा मानी गई है। (२) जिज्ञासा की दृष्टि से परमात्मा पर श्रद्धा रखना, श्रद्धा या भक्ति का दूसरा रूप है। इसमें श्रद्धा तो होती है लेकिन वह पूर्णतया संशयरहित नही होती, जब कि प्रथम स्थिति में होनेवाली श्रद्धा पूर्णतया संशयरहित होती है। संशयरहित श्रद्धा तो साक्षात्कार के पश्चात् ही सम्भव है। जिज्ञासा की अवस्था मे संशय बना ही रहता है। अतः श्रद्धा का यह स्तर प्रथम की अपेक्षा निम्न ही माना गया है। (३) तीसरे स्तर की श्रद्धा आर्त-व्यक्ति की होती है। कठिनाई में फँसा व्यक्ति जब स्वयं अपने को उससे उबारने में असमर्थ पाता है और इसी दैन्यभाव से किसी उद्धारक के प्रति अपनी निष्ठा को स्थिर करता है, तो उसकी यह श्रद्धा या भक्ति एक दुःखी या आर्त व्यक्ति की भक्ति ही होती है। श्रद्धा या भक्ति का यह स्तर पूर्वोक्त दोनों स्तरों से निम्न होता है। (४) श्रद्धा या भक्ति का चौथा स्तर वह है जिसमे श्रद्धा का उदय स्वार्थ के वशीभूत होकर होता है। यहाँ श्रद्धा कुछ

---

१. गीता, १७।१३
२. वही, ४।४०
३. वही, १७।२-४
४. वही, ७।२०-२३

पाने के लिए की जाती है। यह फलाकांक्षा की पूर्ति के लिए की जाने वाली श्रद्धा अत्यन्त निम्न स्तर की मानी गयी है। वस्तुतः इसे श्रद्धा केवल उपचार मे ही कहा जाता है। अपनी मूल भावनाओं में तो यह एक व्यापार अथवा ईश्वर को ठगने का एक प्रयत्न है। ऐसी श्रद्धा या भक्ति नैतिक प्रगति में किसी भी अर्थ में सहायक नही होती। नैतिक दृष्टि से केवल ज्ञान के द्वारा अथवा जिज्ञासा के लिए की गयी श्रद्धा का ही कोई अर्थ और मूल्य हो सकता है।[1]

तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते समय हमें यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि गीता में स्वयं भगवान् के द्वारा अनेक बार यह आश्वासन दिया गया है कि जो मेरे प्रति श्रद्धा रखेगा वह बन्धनों से छूटकर अन्त में मुझे ही प्राप्त होगा। गीता मे भक्त के योगक्षेम की जिम्मेदारी स्वयं भगवान् ही वहन करते हैं[2], जबकि जैन और बौद्ध दर्शनों में ऐसे आश्वासनों का अभाव है। गीता मे वैयक्तिक ईश्वर के प्रति जिम निष्ठा का उद्बोधन है, वह सामान्यतया जैन और बौद्ध परम्पराओं मे अनुपलब्ध ही है।

उपसंहार—सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा का जीवन में क्या मूल्य है इस पर भी विचार करना अपेक्षित है। यदि हम सम्यग्दर्शन को दृष्टिपरक अर्थ में स्वीकार करते हैं, जैसा कि सामान्यतया जैन और बौद्ध विचारणाओं में स्वीकार किया गया है, तो उसका हमारे जीवन में एक महत्त्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। सम्यग्दर्शन जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है। वह अनासक्त जीवन जीने की कला का केन्द्रीय तत्त्व है। हमारे चरित्र या व्यक्तित्व का निर्माण इसी जीवनदृष्टि के आधार पर होता है। गीता में इसी को यह कह कर बताया है कि यह पुरुष श्रद्धामय है और जैसी श्रद्धा होती है वैमा ही वह बन जाता है। हम अपने को जो और जैसा बनाना चाहते हैं वह इमी बात पर निर्भर है कि हम अपनी जीवनदृष्टि का निर्माण भी उसी के अनुरूप करें। क्योंकि व्यक्ति की जैसी दृष्टि होती है वैसा ही उसका जीवन जीने का ढंग होता है और जैसा उसका जीने का ढंग होता है वैसा ही उसका चरित्र बन जाता है। और जैसा उसका चरित्र होता है वैसा ही उसके व्यक्तित्व का उभार होता है। अतः एक यथार्थ दृष्टिकोण का निर्माण जीवन की सबसे प्राथमिक आवश्यकता है।

यदि हम गीता के अनुसार सम्यग्दर्शन अथवा श्रद्धा को आस्तिक बुद्धि के अर्थ में लेते हैं और उसे समर्पण की वृत्ति मानते है तो भी उसका महत्त्व निर्विवाद रूप से बहुत अधिक है। जीवन दुःख, पीड़ा और बाधाओं से भरा है। यदि व्यक्ति इसके बीच रहते हुए किसी ऐसे केन्द्र को नहीं खोज निकालता जो कि उसे इन बाधाओं और पीड़ाओं से उबारे तो उसका जीवन सुख और शान्तिमय नही हो सकता है। जिस प्रकार परिवार में बालक अपने योगक्षेम की सम्पूर्ण जिम्मेदारी माता-पिता पर छोड़कर

---

१. गीता, ७।१६। २. वही, १८।६५-६६।

चिन्ताओं से मुक्त एवं तनावों से रहित सुख और शान्तिपूर्ण जीवन जीता है, उसी प्रकार साधक व्यक्ति भी अपने योगक्षेम की समस्त जिम्मेदारियों को परमात्मा पर छोड़ कर एक निश्चिन्त, तनावरहित, शान्त और सुखद जीवन जी सकता है। इस प्रकार तनावरहित, शान्त और समत्वपूर्ण जीवन जीने के लिए सम्यग्दर्शन से या श्रद्धा युक्त होना आवश्यक है। उसी से वह दृष्टि मिलती है जिसके आधार पर हम अपने ज्ञान को भी सही दिशा में नियोजित कर उसे यथार्थ बना लेते हैं।

सम्यग्ज्ञान (ज्ञानयोग)

जैन नैतिक साधना में ज्ञान का स्थान—अज्ञान दशा में विवेक-शक्ति का अभाव होता है और जबतक विवेकाभाव है, तब तक उचित और अनुचित का अन्तर ज्ञात नही होता। इसीलिए दशवैकालिकसूत्र मे कहा है भला, अज्ञानी मनुष्य क्या (साधना) करेगा? वह श्रेय (शुभ) और पाप (अशुभ) को कैसे जान सकेगा?[1] जैन-साधना-मार्ग मे प्रविष्ट होने की पहली शर्त यही है कि व्यक्ति अपने अज्ञान अथवा अयथार्थ ज्ञान का निराकरण कर सम्यक् (यथार्थ) ज्ञान को प्राप्त करे। साधना-मार्ग के पथिक के लिए जैन ऋषियों का चिर-सन्देश है कि प्रथम ज्ञान और तत्पश्चात् अहिंसा का आचरण; सयमी साधक की साधना का यही क्रम है।[2] साधक के लिए स्व-परस्वरूप का भान, हेय और उपादेय का ज्ञान और शुभाशुभ का विवेक साधना के राजमार्ग पर बढने के लिए आवश्यक है। उपर्युक्त ज्ञान की साधनात्मक जीवन के लिए क्या आवश्यकता है इसका क्रमिक और सुन्दर विवेचन दशवैकालिकसूत्र मे मिलता है। उसमे आचार्य लिखते है कि जो आत्मा और अनात्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है ऐसा ज्ञानवान साधक साधना (सयम) के स्वरूप को भलीभाँति जान लेता है, क्योकि जो आत्मस्वरूप और जडस्वरूप को यथार्थ रूपेण जानता है, वह सभी जीवात्माओ के संसार-परिभ्रमण रूप विविध (मानव-पशु-आदि) गतियो को जान भी लेता है और जो इन विविध गतियो को जानता है, वह (इस परिभ्रमण के कारण रूप) पुण्य, पाप, बन्धन तथा मोक्ष के स्वरूप को भी जान लेता है। पुण्य, पाप, बंधन और मोक्ष के स्वरूप को जानने पर साधक भोगो की निस्सारता को समझ लेता है और उनसे विरक्त (अनासक्त) हो जाता है। भोगों से विरक्त होने पर बाह्य और आन्तरिक सासारिक सयोगों को छोडकर मुनिचर्या धारण कर लेता है। तत्पश्चात् उत्कृष्ट संवर (वासनाओ के नियन्त्रण) से अनुत्तर धर्म का आस्वादन करता है, जिससे वह अज्ञानकालिमा-जन्य कर्म-मल को झाड देता है और केवलज्ञान और केवल-दर्शन को प्राप्त कर तदन्तर मुक्ति-लाभ कर लेता है।[3] उत्तराध्ययनसूत्र मे ज्ञान का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि ज्ञान अज्ञान एव मोहजन्य अन्धकार को नष्ट कर सर्व तथ्यों (यथार्थता) को प्रकाशित करता है।[4] सत्य के स्वरूप को समझने का एकमेव साधन ज्ञान ही है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है, ज्ञान ही मनुष्य-जीवन का सार है।[5]

---

१. अन्नाणी कि काही किं वा नाहिइ छेय पावग? दशवैकालिक, ४।१० (उत्तरार्ध)।

२. पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। वही, ४।१० (पूर्वार्ध)।

३. वही, ४।१४-२७। ४. उत्तराध्ययन, ३२।२ ५. दर्शनपाहुड, ३१

व्यक्ति आस्रव, अशुचि, विभाव और दुःख के कारणों को जानकर ही उनसे निवृत्त हो सकता है।[१]

बौद्ध-दर्शन में ज्ञान का स्थान—जैन-साधना के समान बौद्ध-साधना में भी अज्ञान को बंधन का और ज्ञान को मुक्ति का कारण कहा गया है। सुत्तनिपात में बुद्ध कहते हैं, अविद्या के कारण ही (लोग) बारम्बार जन्म मृत्यु रूपी संसार में आते हैं, एक गति से दूसरी गति (को प्राप्त होते हैं)। यह अविद्या महामोह है, जिसके आश्रित हो (लोग) संसार में आते है। जो लोग विद्या से युक्त हैं, वे पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं होते।[२] जिस व्यक्ति में ज्ञान और प्रज्ञा होती है वही निर्वाण के समीप होता है।[३] बौद्ध-दर्शन के त्रिविध साधना-मार्ग में प्रज्ञा अनिवार्य अंग है।

गीता में ज्ञान का स्थान—गीता के आचार-दर्शन में भी ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। शंकरप्रभृति विचारकों की दृष्टि में तो गीता ज्ञान के द्वारा ही मुक्ति का प्रतिपादन करती है।[४] आचार्य शंकर की यह धारणा कहाँ तक समुचित है, यह विचारणीय विषय है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि गीता की दृष्टि में ज्ञान मुक्ति का साधन है और अज्ञान विनाश का। गीताकार का कथन है कि अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशययुक्त व्यक्ति विनाश को प्राप्त होते हैं[५]। जबकि ज्ञानरूपी नौका का आश्रय लेकर पापी से पापी व्यक्ति पापरूपी समुद्र से पार हो जाता है।[६] ज्ञान-अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[७] इस जगत् में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला अन्य कुछ नहीं है।[८]

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप—ज्ञान मुक्ति का साधन है, लेकिन कौन सा ज्ञान साधना के लिए आवश्यक है? यह विचारणीय है। आचार्य यशोविजयजी ज्ञानसार में लिखते हैं कि मोक्ष के हेतुभूत एक पद का ज्ञान भी श्रेष्ठ है, जबकि मोक्ष की साधना में अनुपयोगी विस्तृत ज्ञान भी व्यर्थ है।[९] ऐसे विशालकाय ग्रन्थों का अध्ययन नैतिक जीवन के लिए अनुपयोगी ही है जिससे आत्म-विकास सम्भव न हो। जैन नैतिकता यह बताती है कि जिस ज्ञान से स्वरूप का बोध नहीं होता, वह ज्ञान साधना में उपयोगी नहीं है, अल्पतम सम्यग्ज्ञान भी साधना के लिए श्रेष्ठ है। जैन-साधना में सम्यग्ज्ञान को ही साधनत्रय में स्थान दिया गया है। जैन चिन्तकों की दृष्टि में ज्ञान दो प्रकार का हो सकता है, एक सम्यक् और दूसरा मिथ्या। सामान्य शब्दावली में इन्हें यथार्थज्ञान और अयथार्थज्ञान कह सकते हैं। अतः यह विचार अपेक्षित है कि कौनसा ज्ञान सम्यक् है और कौनसा ज्ञान मिथ्या है?

१. समयसार, ७२ २. सुत्तनिपात, ३८।६-७ ३. धम्मपद, ३७२
४. गीता (शां), २।१० ५. गीता, ४।४० ६. वही, ४।३६
७. वही, ४।३७ ८. वही, ४।३८ ९. ज्ञानसार ५।२

सामान्य साधकों के लिए जैनाचार्यों ने ज्ञान की सम्यक्ता और असम्यक्ता का जो आधार प्रस्तुत किया, वह यह है कि तीर्थंकरों के उपदेशरूप गणधर प्रणीत जैनागम यथार्थज्ञान है और शेष मिथ्याज्ञान है।[१] यहाँ ज्ञान के सम्यक् या मिथ्या होने की कसौटी आप्तवचन है। जैनदृष्टि में आप्त वह है जो रागद्वेष से रहित वीतराग या अर्हत् है। नन्दीसूत्र में इसी आधार पर सम्यक् श्रुत और मिथ्या श्रुत का विवेचन हुआ है। लेकिन जैनागम ही सम्यग्ज्ञान है और शेष मिथ्याज्ञान है, यह कसौटी जैनाचार्यों ने मान्य नहीं रखी। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आगम या ग्रन्थ जो शब्दों के संयोग से निर्मित हुए हैं, वे अपने आपमें न तो सम्यक् हैं और न मिथ्या, उनका सम्यक् या मिथ्या होना तो अध्येता के दृष्टिकोण पर निर्भर है। एक यथार्थ दृष्टिकोण वाले (सम्यक् दृष्टि) के लिए मिथ्या श्रुत (जैनेतर आगम ग्रन्थ) भी सम्यक्श्रुत है जबकि एक मिथ्यादृष्टि के लिए सम्यक् श्रुत भी मिथ्याश्रुत है।[२] इस प्रकार अध्येता के दृष्टिकोण की विशुद्धता को भी ज्ञान के सम्यक् अथवा मिथ्या होने का आधार माना गया है। जैनाचार्यों ने यह धारणा प्रस्तुत की कि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण शुद्ध है, सत्यान्वेषी है तो उसको जो भी ज्ञान प्राप्त होगा; वह भी सम्यक् होगा। इसके विपरीत जिसका दृष्टिकोण दुराग्रह दुरभिनिवेश से युक्त है, जिसमें यथार्थ लक्ष्योन्मुखता और आध्यात्मिक जिज्ञासा का अभाव है, उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

ज्ञान के स्तर—'स्व' के यथार्थ स्वरूप को जानना ज्ञान का कार्य है, लेकिन कौनसा ज्ञान स्व या आत्मा को जान सकता है, यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। भारतीय और पाश्चात्य चिन्तन में इस पर गहराई से विचार किया गया है। गीता में एक ओर बुद्धि ज्ञान और असम्मोह के नाम से ज्ञान की तीन कक्षाओं का विवेचन उपलब्ध है,[३] तो दूसरी ओर सात्विक, राजस और तामस इस प्रकार से ज्ञान के तीन स्तरों का भी निर्देश है।[४] जैन-परम्परा मे मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्यय और केवल इस प्रकार से ज्ञान के पाँच स्तरों का विवेचन उपलब्ध है।[५] दूसरी ओर अपेक्षाभेद से लौकिक प्रत्यक्ष (इन्द्रियप्रत्यक्ष) परोक्ष (बौद्धिकज्ञान और आगम) और अलौकिक प्रत्यक्ष (आत्म-प्रत्यक्ष) ऐसे तीन स्तर भी माने जा सकते हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन-दृष्टि और गीता का समन्वय करते हुए इन्द्रियजन्य ज्ञान को बुद्धि, आगमज्ञान को ज्ञान और सदनुष्ठान (अप्रमत्तता) को असम्मोह कहा है।[६] इतना ही नहीं, आचार्य ने उनमें बुद्धि (इन्द्रियज्ञान) एवं बौद्धिक-ज्ञान की अपेक्षा ज्ञान (आगम) और ज्ञान की अपेक्षा असम्मोह (अप्रमत्तता) की कक्षा ऊँची मानी है। बौद्ध-दर्शन मे भी इन्द्रियज्ञान, बौद्धिक ज्ञान और लोकोत्तर ज्ञान ऐसे

---

१. अभिधान-राजेन्द्र खण्ड ७, पृ० ५१५
२. वही, पृ० ५१४
३. गीता, १०।४
४. वही, १८।१९
५. तत्त्वार्थसूत्र, १।९
६. योगदृष्टिसमुच्चय ११९

तीन स्तर माने जा सकते हैं। त्रिशिका में लोकोत्तर ज्ञान का निर्देश है।[1] पाश्चात्य दार्शनिक स्पीनोजा ने भी ज्ञान के तीन स्तर माने हैं।[2] १. इन्द्रियजन्य ज्ञान, २. तार्किक ज्ञान और ३. अन्तर्बोधात्मक ज्ञान। यही नहीं, स्पीनोजा ने भी इनमें इन्द्रिय-ज्ञान की अपेक्षा तार्किक ज्ञान को और तार्किक ज्ञान की अपेक्षा अन्तर्बोधात्मक ज्ञान को श्रेष्ठ और अधिक प्रामाणिक माना है। उनकी दृष्टि मे इन्द्रियजन्यज्ञान अपर्याप्त एवं अप्रामाणिक है, जबकि तार्किक एवं अन्तर्बोधात्मक ज्ञान प्रामाणिक है। इसमे भी पहले की अपेक्षा दूसरा अधिक पूर्ण है।

ज्ञान का प्रथम स्तर इन्द्रियजन्य ज्ञान है। यह पदार्थों को या इन्द्रियों के विषयों को जानता है। ज्ञान के इस स्तर पर न तो 'स्व' या आत्मा का साक्षात्कार सम्भव है और न नैतिक जीवन ही। आत्मा या स्व का ज्ञान इस स्तर पर इसलिए असम्भव है कि एक तो आत्मा अमूर्त एवं अतीन्द्रिय है। दूसरे, इन्द्रियाँ बहिर्दृष्टा हैं, वे आन्तरिक 'स्व' को नहीं जान सकतीं। तीसरे, इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति 'स्व' पर आश्रित है, वे 'स्व' के द्वारा जानती है, अतः 'स्व' को नहीं जान सकती। जैसे आँख स्वयं को नही देख सकती, उसी प्रकार जानने वाली इन्द्रियाँ जिसके द्वारा जानती है उसे नहीं जान सकतीं।

ज्ञान का यह स्तर नैतिक जीवन की दृष्टि से इसलिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इस स्तर पर आत्मा पूरी तरह पराश्रित होती है। वह जो कुछ करता है, वह किन्हीं बाह्यतत्त्वों पर आधारित होकर करता है; अतः ज्ञान के इस स्तर मे आत्मा परतन्त्र है। जैन-विचारकों ने आत्मा की दृष्टि से इसे परोक्षज्ञान ही माना है, क्योंकि इसमें इन्द्रियादि निमित्त की अपेक्षा है।

बौद्धिक ज्ञान—ज्ञान का दूसरा स्तर बौद्धिक ज्ञान या आगम ज्ञान का है। ज्ञान का बौद्धिक स्तर भी आत्म-साक्षात्कार या स्व-बोध की अवस्था तो नही है, केवल परोक्ष रूप में इस स्तर पर आत्मा यह जान पाता है कि वह क्या नही है। यद्यपि इस स्तर पर ज्ञान के विषय आन्तरिक होते हैं, तथापि इस स्तर पर विचारक और विचार का द्वैत रहता है। ज्ञायक आत्मा आत्मकेन्द्रित न होकर पर-केन्द्रित होता है। यद्यपि यह पर (अन्य) बाह्य वस्तु नहीं, स्वयं उसके ही विचार होते हैं। लेकिन जब तक पर-केन्द्रितता है, तब तक सच्ची अप्रमत्तता का उदय नहीं होना और जब तक अप्रमत्तता नहीं आती, आत्मसाक्षात्कार या परमार्थ का बोध नही होता है। जब तक विचार है, विचारक विचार मे स्थित होता है और 'स्व' में स्थित नहीं होता और 'स्व' में

१. त्रिशिका २९. उद्धृत महायान पृ० ७२
२. स्पीनोजा और उसका दर्शन, पृ० ८६-८७

स्थित हुए बिना आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। यद्यपि इस स्तर पर 'स्व' का ग्रहण नहीं होता, लेकिन पर (अन्य) का पर के रूप में बोध और पर का निराकरण अवश्य होता है। इस अवस्था में जो प्रक्रिया होती है वह जैन-विचारणा में भेद-विज्ञान कही जाती है। आगम-ज्ञान भी प्रत्यक्ष रूप से तत्त्व या आत्मा का बोध नहीं करता है, फिर भी जैसे चित्र अथवा नक्शा मूल वस्तु का निर्देश करने में सहायक होता है, वैसे ही आगम भी तत्त्वोपलब्धि या आत्मज्ञान का निर्देश करते हैं। वास्तविक तत्त्व-बोध तो अपरोक्षानुभूति से ही सम्भव है। जिस प्रकार नक्शा या चित्र मूलवस्तु से भिन्न होते हुए भी उसका संकेत करता है, वैसे ही बौद्धिक ज्ञान या आगम भी मात्र संकेत करते हैं—**लक्ष्यते न तु उच्यते।**

आध्यात्मिक ज्ञान—ज्ञान का तीसरा स्तर आध्यात्मिक ज्ञान है। इसी स्तर पर आत्म-बोध, स्व का साक्षात्कार अथवा परमार्थ की उपलब्धि होती है। यह निर्विचार या विचारशून्यता की अवस्था है। इस स्तर पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद मिट जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय सभी 'आत्मा' होता है। ज्ञान की यह निर्विचार, निर्विकल्प, निराश्रित अवस्था ही ज्ञानात्मक साधना की पूर्णता है। जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन का साध्य ज्ञान की इसी पूर्णता को प्राप्त करना है। जैन दृष्टि से यही केवलज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो सर्वनयों (विचार-विकल्पों) से शून्य है, वही आत्मा (समयसार) है और वही केवलज्ञान और केवलदर्शन कहा जाता है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र भी लिखते हैं—विचार की विधाओं से रहित, निर्विकल्प स्व-स्वभाव में स्थित ऐसा जो आत्मा का सार तत्त्व (समयसार) है, जो अप्रमत्त पुरुषों के द्वारा अनुभूत है, वही विज्ञान है, वही पवित्र-पुराणपुरुष है। उसे ज्ञान (आध्यात्मिक ज्ञान) कहा जाय या दर्शन (आत्मानुभूति) कहा जाय या अन्य किसी नाम से कहा जाय, वह एक ही है और अनेक नामों से जाना जाता है।[2] बौद्ध-आचार्य भी इसी रूप में इस लोकोत्तर आध्यात्मिक ज्ञान की विवेचना करते हैं। वह किसी भी बाह्य पदार्थ का ग्राहक नहीं होने से 'अचित' है, बाह्य पदार्थों के आश्रय का अभाव होने से अनुपलम्भ है वही लोकोत्तर ज्ञान है। क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के नष्ट हो जाने से वह आश्रित-चित्त (आलयविज्ञान) निवृत्त (परावृत) होता है प्रवृत्त नहीं होता है। वही अनास्रव धातु (आवरणरहित), अतर्कगम्य, कुशल, ध्रुव, आनन्दमय विमुक्तिकाय और धर्मकाय कहा जाता है।[3]

गीता में भी कहा है कि जो सर्व-संकल्पों का त्याग कर देता है, वह योग मार्ग में आरूढ़ कहा जाता है।[4] क्योंकि समाधि की अवस्था में विकल्प या व्यवसायात्मिका बुद्धि

---

१. समयसार, १४४ २. समयसारटीका, ९३
३. त्रिशिका २९-३० उद्धृत महायान, पृ० ७०-७१ ४. गीता, ६।४

नहीं होती ।[१] डा० राधाकृष्णन् भी आध्यात्मिक ज्ञान के सम्बन्ध मे लिखते है कि "(जब) वासनाएँ मर जाती हैं, तब मन मे एक ऐसी शान्ति उत्पन्न होती है जिसमे आन्तरिक निःशब्दता पैदा होती है। इस निःशब्दता मे अन्तर्दृष्टि (आध्यात्मिक ज्ञान) उत्पन्न होती है और मनुष्य वह बन जाता है जो कि वह तत्त्वत है ।[२]"

इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन ज्ञान के इस आध्यात्मिक स्तर पर ही ज्ञान की पूर्णता मानते है। लेकिन प्रश्न यह है कि इस ज्ञान की पूर्णता को कैसे प्राप्त किया जाये ? भारतीय आचार-दर्शन इस सन्दर्भ मे जो मार्ग प्रस्तुत करते है उसे भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्म-विवेक कहा जा सकता है। यहाँ भेद-विज्ञान की प्रक्रिया पर किंचित् विचार करलेना उचित होगा।

नैतिकजीवन का लक्ष्य आत्मज्ञान—भारतीय नैतिक चिन्तन आत्म-जिज्ञासा से प्रारम्भ होता है। जब तक आत्म-जिज्ञासा उत्पन्न नही होती, तब तक नैतिक विकास की ओर अग्रसर ही नही हुआ जा सकता। जब तक बाह्य दृष्टि है और आत्म जिज्ञासा नहीं है, तब तक जैन-दर्शन के अनुसार नैतिक विकास सम्भव नही। आत्मा के सच्चे स्वरूप की प्रतीति होना ही नितात आवश्यक है, यही सम्यग्ज्ञान है। ऋग्वेद का ऋषि इसी आत्म-जिज्ञासा की उत्कट वेदना से पुकार कर कहता है, 'यह मै कौन हू अथवा कैसा हू इसको मै नही जानता।"[३] प्रमुख जैनागम आचारागसूत्र का प्रारम्भ भी आत्म-जिज्ञासा से होता है। उसमे कहा है कि अनेक मनुष्य यह नही जानते कि मै कहाँ से आया हू ? मेरा भवान्तर होगा या नही ? मै कौन हूं ? यहाँ से कहा जाऊंगा ?[४] जैन-दर्शन का नैतिक आदर्श आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप मे उपलब्ध करना है।

नैतिकता आत्मोपलब्धि का प्रयास है और आत्म-ज्ञान नैतिक आदर्श के रूप मे स्व-स्वरूप (परमार्थ) का ही ज्ञान है, जो अपने आपको जान लेता है उसे सर्वविज्ञात हो जाता है। महावीर कहते है कि एक (आत्मा) को जानने पर सब जाना जाता है।[५] उपनिषद् का ऋषि भी यही कहता है कि उस एक (आत्मन्) को विज्ञात कर लेने पर सब विज्ञात हो जाता है।[६] जैन बौद्ध और गीता की विचारणाएँ इस विषय मे एक मत है कि अनात्म मे आत्मबुद्धि, ममत्वबुद्धि या मेरापन ही बन्धन का कारण है। वस्तुत जो हमारा स्वरूप नही है उसे अपना मान लेना ही बन्धन है। इसीलिए नैतिक जीवन मे स्वरूपबोध आवश्यक माना गया। स्वरूप-बोध जिस क्रिया से उपलब्ध होता है उसे जैन-दर्शन मे भेद-विज्ञान कहा गया है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरि कहते है कि जो सिद्ध हुए है वे भेद-विज्ञान

१. गीता, २।६६
२. भगवद्गीता (रा०), पृ० ५८
३. ऋग्वेद, १।१६४।३७
४. आचाराग, १।१।१
५. वही, १।३।४
६. छान्दोग्योपनिषद्, ६।१।३

से ही हुए हैं और जो कर्म से बंधे है वे भेद-विज्ञान के अभाव में बंधे हुए है।[1] भेद-विज्ञान का प्रयोजन आत्मतत्त्व को जानना है। नैतिक जीवन के लिए आत्मतत्त्व का बोध अनिवार्य है। प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विचारक आत्मबोध पर बल देते हैं। उपनिषद् के ऋषियों का संदेश है–आत्मा को जानो। पाश्चात्य विचारणा भी नैतिक जीवन के लिए आत्मज्ञान, आत्म-स्वीकरण (श्रद्धा) और आत्मस्थिति को स्वीकार करती है।

आत्मज्ञान की समस्या—स्व को जानना अपने आप में एक दार्शनिक समस्या है, क्योंकि जो भी जाना जा सकता है, वह 'स्व' कैसे होगा? वह तो 'पर' ही होगा। 'स्व' तो वह है, जो जानता है। स्व को ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। ज्ञान तो ज्ञेय का होता है, ज्ञाता का ज्ञान कैसे हो सकता है? क्योंकि ज्ञान की प्रत्येक अवस्था में ज्ञाता ज्ञान के पूर्व उपस्थित होगा और इस प्रकार ज्ञान के हर प्रयास में वह अज्ञेय ही बना रहेगा। ज्ञाता को जानने की चेष्टा तो आँख को उसी आँख से देखने की चेष्टा जैसी बात है। जैसे नट अपने कंधे पर चढ़ नहीं सकता, वैसे ही ज्ञाता ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जा सकता। ज्ञाता जिसे भी जानेगा वह ज्ञान का विषय होगा और वह ज्ञाता से भिन्न होगा। दूसरे, आत्मा या ज्ञाता स्वतः के द्वारा नहीं जाना जा सकेगा क्योंकि उसके ज्ञान के लिए अन्य ज्ञाता की आवश्यकता होगी और यह स्थिति हमें अनवस्था दोष की ओर ले जायेगी।

इसीलिए उपनिषद् के ऋषियों को कहना पड़ा कि अरे! विज्ञाता को कैसे जाना जाये।[2] केनोपनिषद् मे कहा है कि वहाँ तक न नेत्रेन्द्रिय जाती है, न वाणी जाती है, न मन ही जाता है। अतः किस प्रकार उसका कथन किया जाये वह हम नहीं जानते। वह हमारी समझ मे नही आता। वह विदित से अन्य ही है तथा अविदित से भी परे है।[3] जो वाणी से प्रकाशित नही है, किन्तु वाणी ही जिससे प्रकाशित होती है,[4] जो मन से मनन नहीं किया जा सकता बल्कि मन ही जिससे मनन किया हुआ कहा जाता है, जिसे कोई नेत्र द्वारा देख नहीं सकता वरन् जिसकी सहायता से नेत्र देखते हैं,[5] जो कान से नहीं सुना जा सकता वरन् श्रोत्रों मे ही जिससे सुनने की शक्ति आती है।[6] वास्तविकता यह है कि आत्मा समग्र ज्ञान का आधार है, वह अपने द्वारा नही जाना जा सकता। जो समग्रज्ञान के आधार में रहा है उसे उस रूप मे तो नहा जाना जा सकता जिस रूप में हम सामान्य वस्तुओं को जानते हैं। जैन विचारक कहते हैं कि जैसे सामान्य वस्तुएँ इन्द्रियों के माध्यम से जानी जाती हैं, वैसे आत्मा को नहीं जाना जा सकता। उत्तराध्ययन में कहा है कि आत्मा इन्द्रियग्राह्य नहीं है, क्योंकि वह अमूर्त है।[7]

---

१. समयसार टीका, १३१
२ बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१४
३. केनोपनिषद्, १।४
४. वही १।५
५. वही, १।७
६. वही, १।७
७. उत्तराध्ययन, १४।१९

पाश्चात्य विचारकों में कांट भी यह मानते हैं कि आत्मा का ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के आधार पर नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा के ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नही रह सकता, अन्यथा ज्ञाता के रूप मे वह सदा ही अज्ञेय बना रहेगा। वहाँ तो जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, यही आत्मज्ञान की कठिनाई है। बुद्धि अस्ति और नास्ति की विधाओं से सीमित है, वह विकल्पों से परे नही जा सकती, जबकि आत्मा या स्व तो बुद्धि की विधाओं से परे है। आचार्य कुन्दकुन्द ने उसे नयपक्षातिक्रान्त कहा है। बुद्धि की विधाएँ या नयपक्ष ज्ञायक आत्मा के आधार पर ही स्थित है। वे आत्मा के समग्र स्वरूप का ग्रहण नही कर सकते। उसे तर्क और बुद्धि से अज्ञेय कहा गया है।[1]

मैं सबको जान सकता हूँ, लेकिन उसी भाँति स्वयं को नही जान सकता। शायद इसीलिए आत्मज्ञान जैसी घटना भी दुरूह बनी हुई है। इसीलिए सम्भवतः आचार्य कुन्दकुन्द को भी कहना पड़ा, आत्मा बडी कठिनता से जाना जाता है।[2] निश्चय ही आत्मज्ञान वह ज्ञान नही है जिससे हम परिचित है। आत्मज्ञान मे ज्ञाता-ज्ञेय का भेद नही है। इसीलिए उसे परमज्ञान कहा गया है, क्योंकि उसे जान लेने पर कुछ भी जानना शेष नही रहता। फिर भी उसका ज्ञान पदार्थ-ज्ञान की प्रक्रिया से नितान्त भिन्न रूप मे होता है। पदार्थ-ज्ञान मे विषय-विषयी का सम्बन्ध है, आत्मज्ञान मे विषय-विषयी का अभाव। पदार्थ ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय होते है लेकिन आत्मज्ञान मे ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। वहाँ तो मात्र ज्ञान होता है। वह शुद्ध ज्ञान है, क्योंकि उसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों अलग अलग नही रहते। इस ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही आत्मज्ञान है, यही परमार्थज्ञान है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि ऐसा विषय और विषयी से अथवा ज्ञाता और ज्ञेय से रहित ज्ञान उपलब्ध कैसे हो?

आत्मज्ञान की प्राथमिक विधि भेद-विज्ञान—यद्यपि यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञाता-ज्ञेयरूप ज्ञान के द्वारा नही जाना जा सकता, लेकिन अनात्म-तत्त्व तो ऐसा है जिसे ज्ञाता ज्ञेयरूप ज्ञान का विषय बनाया जा सकता है। सामान्य व्यक्ति भी इस साधारण ज्ञान के द्वारा इतना तो जान सकता है कि अनात्म या उसके ज्ञान के विषय क्या है। अनात्म के स्वरूप को जानकर उसमें विभेद स्थापित किया जा सकता है और इस प्रकार परोक्ष विधि के माध्यम से आत्मज्ञान की दिशा मे बढ़ा जा सकता है। सामान्य बुद्धि चाहे हमे यह न बता सके कि परमार्थ का स्वरूप क्या है, लेकिन वह यह तो सहज रूप में बता सकती है कि यह परमार्थ नही है। यह निषेधात्मक विधि ही परमार्थ बोध की एकमात्र पद्धति है, जिसके द्वारा सामान्य साधक परमार्थबोध की दिशा में आगे बढ़ सकता है। जैन, बौद्ध और वेदान्त की परम्परा मे इस विधि का बहुलता से निर्देश

१. आचारांग, १।५।६
२. मोक्खपाहुड, ६५

हुआ है। इसे ही भेद-विज्ञान या आत्म-अनात्मविवेक कहा जाता है। अगली पंक्तियों में हम इसी भेद-विज्ञान का जैन, बौद्ध और गीता के आधार पर वर्णन कर रहे हैं।

जैन-दर्शन में भेद-विज्ञान—आचार्य कुन्दकुन्द ने भेद-विज्ञान का विवेचन इस प्रकार किया है—रूप आत्मा नही है क्योंकि वह कुछ नही जानता, अतः रूप अन्य है और आत्मा अन्य है। वर्ण आत्मा नही है क्योंकि वह कुछ नही जानता, अतः वर्ण अन्य है और आत्मा अन्य है। गन्ध आत्मा नही है क्योंकि वह कुछ नही जानता, अतः गन्ध अन्य है और आत्मा अन्य है। रस आत्मा नही है क्योंकि वह कुछ नहीं जानता, अतः रस अन्य है और आत्मा अन्य है। स्पर्श आत्मा नही है क्योकि वह कुछ नही जानता, अतः स्पर्श अन्य है और आत्मा अन्य है। कर्म आत्मा नही है क्योकि कर्म कुछ नही जानते, अतः कर्म अन्य है आत्मा अन्य है। अध्यवसाय आत्मा नही है क्योंकि अध्यवसाय कुछ नही जानते (मनोभाव भी किसी ज्ञायक के द्वारा जाने जाते है अतः वे स्वतः कुछ नही जानते—क्रोध के भाव को जानने वाला ज्ञायक उससे भिन्न है), अतः अध्यवसाय अन्य है और आत्मा अन्य है।[1] आत्मा न नारक है, न तिर्यंच है, न मनुष्य है, न देव है न बालक है, न वृद्ध है, न तरुण है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है। वह इसका कारण भी नही है और कर्ता भी नहीं है (नियमसार ७८-८१)। इस प्रकार अनात्म-धर्मों (गुणों) के चिन्तन के द्वारा आत्मा का अनात्म से पार्थक्य किया जाता है। यही प्रज्ञापूर्वक आत्म-अनात्म मे किया हुआ विभेद भेद-विज्ञान कहा जाता है। इसी भेद-विज्ञान के द्वारा अनात्म के स्वरूप को जानकर उससे आत्म-बुद्धि का त्याग करना ही सम्यग्ज्ञान की साधना है।

बौद्ध-दर्शन में भेदाभ्यास—जिस प्रकार जैन-साधना में सम्यग्ज्ञान या प्रज्ञा का वास्तविक उपयोग भेदाभ्यास माना गया, उसी प्रकार बौद्ध-साधना मे भी प्रज्ञा का वास्तविक उपयोग अनात्म की भावना मे माना गया है। भेदाभ्यास की साधना मे जैन साधक वस्तुतः स्वभाव के यथार्थज्ञान के आधार पर स्वस्वरूप (आत्म) और परस्वरूप (अनात्म) मे भेद स्थापित करता है और अनात्म मे रही हुई आत्म-बुद्धि का परित्याग कर अन्त मे अपने साधना के लक्ष्य निर्वाण की प्राप्ति करता है। बौद्ध साधना मे भी साधक प्रज्ञा के सहारे जागतिक उपादानों (धर्म) के स्वभाव का ज्ञान कर उनके अनात्म स्वरूप मे आत्म-बुद्धि का परित्याग कर निर्वाण का लाभ करता है। अनात्म के स्वरूप का ज्ञान और उसमे आत्म-बुद्धि का परित्याग दोनों दर्शनों मे साधना के अनिवार्य तत्त्व है। जिस प्रकार जैन विचारकों ने रूप, रस, वर्ण, देह, इन्द्रिय, मन, अध्यवसाय आदि को अनात्म कहा, उसी प्रकार बौद्ध-आगमों मे भी देह, इन्द्रियाँ, उनके विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श तथा मन आदि को अनात्म कहा गया है और दोनों ने साधक के लिए यह स्पष्ट निर्देश किया कि वह उनमें आत्म-बुद्धि न रखे। लगभग समान शब्दों

---

१. समयसार, ३९२-४०३

और शैली में दोनों ही अनात्म-भावना या भेद-विज्ञान की अवधारणा को प्रस्तुत करते हैं, जो तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययनकर्ता के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में बुद्ध वाणी है।

"भिक्षुओं, चक्षु अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मै हूँ, न मेरा आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

"भिक्षुओं, घ्राण अनित्य है, जिह्वा अनित्य है, काया अनित्य है, मन अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, जो दुःख है वह अनात्म है, जो अनात्म है वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरा आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

'भिक्षुओं, रूप अनित्य है, जो अनित्य है वह दुःख है, वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न मैं हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।"

'भिक्षुओ, शब्द अनित्य है....। गंध....। रस....। स्पर्श....। धर्म अनित्य है, जो अनित्य है, वह दुःख है, वह अनात्म है, जो अनात्म है, वह न मेरा है, न मै हूँ, न मेरी आत्मा है, इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक जान लेना चाहिए।'

'भिक्षुओं। इसे जान पण्डित आर्यश्रावक चक्षु मे वैराग्य करता है, श्रोत्र मे, घ्राण मे, जिह्वा मे, काया मे, मन मे वैराग्य करता है। वैराग्य करने से, रागरहित होने से विमुक्त हो जाता है। विमुक्त होने से विमुक्त हो गया ऐसा ज्ञान होता है। जाति क्षीण हुई, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, पुनः जन्म नही होगा—जान लेता है।'

'भिक्षुओ। अतीत और अनागत रूप अनात्म है वर्तमान का क्या कहना ? शब्द....। गन्ध....। रस....। स्पर्श....। धर्म....।

भिक्षुओं। इसे जानकर पण्डित आर्यश्रावक अतीत रूप मे भी अनपेक्ष होता है, अनागत रूप का अभिनन्दन नही करता और वर्तमान रूप के निर्वेद, विराग और विरोध के लिए यत्नशील होता है।'

शब्द....। गन्ध....। रस....। स्पर्श....। धर्म....।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि दोनों विचारणाएँ भेदाभ्यास या अनात्म-भावना के चिन्तन में एक-दूसरे के अत्यन्त निकट है। बौद्ध-विचारणा मे समस्त जागतिक उपादानों को 'अनात्म' सिद्ध करने का आधार है उनकी अनित्यता एवं तज्जनित दुःखमयता। जैन-विचारणा ने अपने भेदाभ्यास की साधना मे जागतिक उपादानों में अन्यत्व भावना का आधार उनकी सांयोगिक उपलब्धि को माना है, क्योंकि यदि सभी

१. संयुत्तनिकाय, ३४।१।१।१; ३४।१।१।४; ३४।१।१।१२

संयोगजन्य है, तो निश्चय ही संयोग कालिक होगा और इस आधार पर वह अनित्य भी होगा।

बुद्ध और महावीर, दोनों ने ज्ञान के समस्त विषयों में 'स्व' या आत्मा का अभाव देखा और उनमें ममत्व-बुद्धि के निषेध की बात कही। लेकिन बुद्ध ने साधना की दृष्टि से यहीं विश्रान्ति लेना उचित समझा। उन्होंने साधक को यही कहा कि तुझे यह जान लेना है कि 'पर' या अनात्म क्या है, 'स्व' को जानने का प्रयास करना व्यर्थ है। इस प्रकार बुद्ध ने मात्र निषेधात्मक रूप में अनात्म का प्रतिबोध कराया, क्योंकि आत्मा के प्रत्यय में उन्हें अहं, ममत्व, या आसक्ति की ध्वनि प्रतीत हुई। महावीर की परम्परा ने अनात्म के निराकरण के साथ आत्मा के स्वीकरण को भी आवश्यक माना। पर या अनात्म का परित्याग और स्व या आत्म का ग्रहण यह दोनों प्रत्यय जैन-विचारणा में स्वीकृत रहे हैं। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, यह शुद्धात्मा जिस तरह पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था उसी तरह प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करना।[1] लेकिन जैन और बौद्ध परम्पराओं का यह विवाद इसलिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहता है कि बौद्ध-परम्परा ने आत्म शब्द से 'मेरा' यह अर्थ ग्रहण किया जबकि जैन-परम्परा ने आत्मा को परमार्थ के अर्थ में ग्रहण किया। वस्तुतः राग का प्रहाण हो जाने पर 'मेरा' तो शेष रहता ही नहीं, रहता है मात्र परमार्थ। चाहे उसे आत्मा कहें, चाहे शून्यता, विज्ञान या परमार्थ कहें, अन्तर शब्दों में हो सकता है, मूल भावना में नहीं।

गीता में आत्म अनात्म विवेक (भेद-विज्ञान)—गीता का आचार-दर्शन भी अनासक्त दृष्टि के उदय और अहं के विगलन को नैतिक साधना का महत्त्वपूर्ण तथ्य मानता है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में हमें उद्धार की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी अपनी वास्तविक प्रकृति को पहचानने की है।[2] अपनी वास्तविक प्रकृति को कैसे पहचानें? इसके साधन के रूप में गीता भी भेद-विज्ञान को स्वीकार करती है। गीता का तेरहवाँ अध्याय हमें भेद-विज्ञान सिखाता है जिसे गीताकार ने 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञान' कहा है। गीताकार ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहता है कि 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाला ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।[3] गीता के अनुसार यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानने वाला ज्ञायक स्वभाव-युक्त आत्मा ही क्षेत्रज्ञ है। वस्तुतः समस्त जगत् जो ज्ञान का विषय है, वह क्षेत्र है और परमात्मस्वरूप विशुद्ध आत्म-तत्त्व जो ज्ञाता है, क्षेत्रज्ञ है।[4] इन्हे क्रमशः प्रकृति और पुरुष भी कहा जाता है। इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति और पुरुष या अनात्म और आत्म का यथार्थ विवेक या भिन्नता का बोध ही ज्ञान है। गीता में सांख्य शब्द आत्म-अनात्म के ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और उसकी व्याख्या में

---

१. समयसार, २९६　　२. भगवद्गीता (रा०) पृ० ५४
३. गीता, १३।२　　४. वही, १३।१

आचार्य शंकर ने यही दृष्टि अपनायी है। वे लिखते हैं कि 'यह त्रिगुणात्मक जगत् या प्रकृति ज्ञान का विषय है, मैं उनसे भिन्न हूँ (क्योंकि ज्ञाता और ज्ञेय, द्रष्टा और दृश्य एक नही हो सकते हैं), उनके व्यापारों का द्रष्टा या साक्षीमात्र हूँ, उनसे विलक्षण हूँ। इस प्रकार आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ही सम्यग्ज्ञान है।'[1] ज्ञायकस्वरूप आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप के बोध के लिए जिन अनात्म तथ्यों से विभेद स्थापित करना होता है, वे हैं—पंचमहाभूत, अहभाव, विषययुक्त बुद्धि, सूक्ष्म प्रकृति, पाचज्ञानेन्द्रियाँ, पांच कर्मेन्द्रियाँ, मन, रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श—पाचों इन्द्रियों के पांच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख-दुःख, स्थूल देह का पिण्ड (शरीर) सुख-दुःखादि भावो की चेतना और धारणा। ये सभी क्षेत्र हैं अर्थात् ज्ञान के विषय है और इसलिए ज्ञायक आत्मा इससे भिन्न है।[2] गीता यह मानती है कि 'आत्मा को अनात्म से अपनी भिन्नता का बोध न होना ही बन्धन का कारण है।' जब यह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक पदार्थो को प्रकृति में स्थित होकर भोगता है तो अनात्म प्रकृति मे आत्म-बुद्धि के कारण ही वह अनेक अच्छी-बुरी योनियों मे जन्म लेता है।[3] दूसरे शब्दो मे अनात्म मे आत्म-बुद्धि करके जब उसका भोग किया जाता है तो उस आत्मबुद्धि के कारण ही आत्मा बन्धन मे आ जाता है। वस्तुत. इस शरीर मे स्थित होता हुआ भी आत्मा उससे भिन्न ही है, यही परमात्मा है।[4] यह परमात्मस्वरूप आत्मा शरीर आदि विषयों मे आत्म-बुद्धि करके ही बन्धन मे है। जब भी इसे भेद-विज्ञान के द्वारा अपने यथार्थ स्वरूप का बोध हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। अनात्म के प्रति आत्म-बुद्धि को समाप्त करना यही भेद-विज्ञान है और यही क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान है। इसी के द्वारा अनात्म एवं आत्म के यथार्थ स्वरूप का बोध होता है। यही मुक्ति का मार्ग है। गीता कहती है जो व्यक्ति अनात्म त्रिगुणात्मक प्रकृति और परमात्मस्वरूप ज्ञायक आत्मा के यथार्थ स्वरूप को तत्त्वदृष्टि से जान लेता है, वह इस ससार मे रहता हुआ भी तत्त्व रूप से उस ससार से ऊपर उठ गया है, वह पुनर्जन्म को प्राप्त नही होता है।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन के समान गीता भी इसी आत्म-अनात्म-विवेक पर जोर देती है। दोनों के निष्कर्ष समान है। शरीरस्थ ज्ञायक स्वरूप आत्मा का बोध ही दोनों आचार-दर्शनों को स्वीकार है। गीता मे श्रीकृष्ण ज्ञान-अग्नि के द्वारा अनात्म में आत्मबुद्धि रूप अज्ञान के छेदन का निर्देश करते है,[6] तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रज्ञा-छेनी से इस आत्म और अनात्म (जड़) को अलग करने की बात कहते हैं।[7]

१. गीता (शां) १३।२४
२. गीता, १३।५-६
३. वही, १३।२१
४. वही, १३।३१
५. वही, १३।२३
६. वही, ४।४२
७. समयसार २९४

निष्कर्ष यह है कि जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन में यह भेद-विज्ञान अनात्म-विवेक या क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-ज्ञान ही ज्ञानात्मक साधना का लक्ष्य है। यही मुक्ति या निर्वाण की उपलब्धि का आवश्यक अग है तब तक अनात्म मे आत्म-बुद्धि का परित्याग नही होगा, तब तक आसक्ति समाप्त नही होती और आसक्ति के समाप्त न होने से निर्वाण या मुक्ति की उपलब्धि नही होती। आचारागसूत्र मे कहा है जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता वह 'स्व' से अन्य रमता भी नही है और जो 'स्व' मे अन्यत्र रमता नही है वह 'स्व' मे अन्यत्र बुद्धि भी नही रखता है।[1]

इस आत्म-दृष्टि या तत्त्व-स्वरूप-दृष्टि का उदय भेद-विज्ञान के द्वारा ही होता है और इस भेद-विज्ञान की कला मे निर्वाण या परमपद की प्राप्ति होती है। भेद-विज्ञान वह कला है जो ज्ञान के व्यावहारिक स्तर मे प्रारम्भ होकर साधक को उस आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचा देती है, जहाँ वह विकल्पात्मक बुद्धि मे ऊपर उठकर आत्म-लाभ करता है।

निष्कर्ष—भारतीय परम्परा मे सम्यग्ज्ञान, विद्या अथवा प्रज्ञा के जिस रूप को आध्यात्मिक एव नैतिक जीवन के लिए आवश्यक माना गया है, वह मात्र बौद्धिक ज्ञान नही है। वह तार्किक विश्लेषण नही, वरन् एक अपरोक्षानुभूति है। बौद्धिक विश्लेषण परमार्थ का साक्षात्कार नही करा सकता, इसलिए यह माना गया कि बौद्धिक विवेचनाओ से ऊपर उठकर ही तत्त्व का साक्षात्कार सम्भव है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराएँ समान रूप से यह स्वीकार करती हैं कि केवल शास्त्रीय ज्ञान से तत्त्व की उपलब्धि नही होती। जहाँ तक बौद्धिक ज्ञान का प्रश्न है, वह अनिवार्य रूप से नैतिक जीवन के साथ जुड़ा हुआ नही है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति विपुल शास्त्रीय ज्ञान एवं तर्क-शक्ति के होते हुए भी सदाचारी न हो। बौद्धिक स्तर पर ज्ञान और आचरण का द्वैत बना रहता है, लेकिन आध्यात्मिक स्तर पर यह द्वैत नही रहता। वहाँ सदाचरण और ज्ञान साथ-साथ रहते है। सुकरात का यह कथन कि 'ज्ञान ही सदगुण है' ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर का परिचायक है। ज्ञान के आध्यात्मिक स्तर पर ज्ञान और आचरण ये दो अलग अलग तथ्य भी नही रहते। ज्ञान का यही स्वरूप नैतिक जीवन का निर्माण कर सकता है। इसमे ज्ञान और आचरण दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

१. आचारांग, १।२।६

सम्यग्दर्शन से सम्यक्चारित्र की ओर

आध्यात्मिक जीवन की पूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान मे काम नही चलता। उसके लिए आचरण जरूरी है। यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का सम्यक्चारित्र के पूर्व होना आवश्यक है, फिर भी वे बिना सम्यक्चारित्र के पूर्णता को प्राप्त नही होते। दर्शन अपने अन्तिम अर्थ तत्त्व-साक्षात्कार के रूप में तथा ज्ञान अपने आध्यात्मिक स्तर पर चारित्र मे भिन्न नही रह पाता। यदि हम सम्यग्दर्शन को श्रद्धा के अर्थ मे और सम्यग्ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान के अर्थ मे ग्रहण करे, तो सम्यक्-चारित्र का स्थान स्पष्ट हो जाता है। वस्तुत इस रूप मे सम्यक्चारित्र आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा मे उठाया गया अन्तिम चरण है।

आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा मे बढने के लिए, सबसे पहले यह आवश्यक है कि जब तक हम अपने मे स्थित उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का अनुभव न करलें, तब तक हमे उन लोगो के प्रति, जिन्होंने उस आध्यात्मिक पूर्णता या परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, आस्थावान रहना चाहिए एव उनके कथनों पर विश्वास करना चाहिए। लेकिन देव, गुरु, शास्त्र और धर्म पर श्रद्धा या आस्था का यह अर्थ कदापि नही है कि बुद्धि के दरवाजे बन्द कर लिये जायँ। मानव मे चिन्तन-शक्ति है यदि उसकी इस चिन्तन-शक्ति को विकास का यथोचित अवसर नही दिया गया है तो न केवल उसका विकास ही अपूर्ण होगा, वरन् मानवीय आत्मा उस आस्था के प्रति विद्रोह भी कर उठेगी। जीवन के तार्किक पक्ष को सन्तुष्ट किया जाना चाहिए। इसीलिए श्रद्धा के साथ ज्ञान का समन्वय किया गया है, अन्यथा श्रद्धा अन्धी होगी। श्रद्धा जब तक ज्ञान एव स्वानुभूति से समन्वित नही होती वह परिपुष्ट नही होती। ऐसी अपूर्ण, अस्थायी और बाह्य श्रद्धा साधक जीवन का अग नही बन पाती है। महाभारत मे कहा गया है कि जिस व्यक्ति ने स्वय के चिन्तन द्वारा ज्ञान उपलब्ध नही किया, वरन् केवल बहुत सी बातो को सुना भर है, वह शास्त्र को सम्यक् रूप मे नही जानता; जैसे चमचा दाल के स्वाद को नही जानता।[1]

इसलिए जैन-विचारणा मे कहा गया है कि प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करना चाहिए; तर्क से तत्त्व का विश्लेषण करना चाहिए।[2] लेकिन तार्किक या बौद्धिक ज्ञान भी अन्तिम नही है। तार्किक ज्ञान जब तक अनुभूति से प्रमाणित नही होता वह पूर्णता तक नही

१. महाभारत, २।५५।१ २. उत्तराध्ययन, २३।२५

पहुँचता है। तर्क या बुद्धि को अनुभूति का सम्बल चाहिए। दर्शन परिकल्पना है, ज्ञान प्रयोग-विधि है और चारित्र प्रयोग है। तीनो के सयोग से सत्य का साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ की उपलब्धि है।[1] सत्य जब तक स्वय के अनुभवो में प्रयोग-सिद्ध नही बन जाता, तबतक वह सत्य नही होता। सत्य तभी पूर्ण सत्य होता है जब वह अनुभूत हो। इसीलिए उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा है कि ज्ञान के द्वारा परमार्थ का स्वरूप जानें, श्रद्धा के द्वारा स्वीकार करे, और आचरण के द्वारा उसका साक्षात्कार करे। यहाँ साक्षात्कार का अर्थ है सत्य, परमार्थ या सत्ता के साथ एकरस हो जाना। शास्त्रकार ने परिग्रहण शब्द की जो योजना की है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बौद्धिक ज्ञान तो हमारे सामने चित्र के समान परमार्थ का निर्देश कर देता है। लेकिन जिस प्रकार से चित्र और यथार्थ वस्तु म महान् अन्तर होता है उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञान द्वारा निर्देशित स्वरूप मे और तत्वत: परमार्थ में भी महान् अन्तर होता है। ज्ञान तो दिशा-निर्देश करता है, साक्षात्कार तो स्वयं करना होता है। साक्षात्कार की यही प्रक्रिया आचारण या चारित्र है। सत्य, परमार्थ, आत्म या तत्त्व जिसका साक्षात्कार किया जाना है वह तो हमारे भीतर सदैव ही उपस्थित है। लेकिन जिस प्रकार मलिन, गदले एव अस्थिर जल मे कुछ भी प्रतिविम्बित नही होता उसी प्रकार वासनाओ, कषायो और राग-द्वेष की वृत्तियो से मलिन एव अस्थिर बनी हुई चेतना मे सत्य या परमार्थ प्रतिबिम्बित नही होता। प्रयास या आचरण सत्य को पाने के लिए नही, वरन् वासनाओ एव राग-द्वेष की वृत्तियो से जनित इस मलिनता या अस्थिरता को समाप्त करने के लिए आवश्यक है। जब वासनाओ की मलिनता समाप्त हो जाती है, राग और द्वेष के प्रहाण से चित्त स्थिर हो जाता है तो सत्य प्रतिबिम्बित हो जाता है और साधक को परम शान्ति, निर्वाण या ब्रह्म-भाव का लाभ हो जाता है। हम वह हो जाते हैं जो कि तत्त्वत हम हैं।

सम्यक्चारित्र का स्वरूप—सम्यक्चारित्र का अर्थ है चित्त अथवा आत्मा की वासनाओं की मलिनता और अस्थिरता को समाप्त करना। यह अस्थिरता या मलिनता स्वाभाविक नही, वरन् वैभाविक है, बाह्यभौतिक एव तज्जनित आन्तरिक कारणो से है। जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराएँ इस तथ्य को स्वीकार करती है। समयसार मे कहा है कि तत्त्व दृष्टि से आत्मा शुद्ध है।[2] भगवान् बुद्ध भी कहते हे कि भिक्षुओ, यह चित्त स्वाभाविक रूप में शुद्ध है।[3] गीता भी उसे अविकारी कहती है।[4] आत्मा या चित्त की जो अशुद्धता है, मलिनता है, अस्थिरता या चचलता है, वह बाह्य है, अस्वाभाविक है। जैन-दर्शन उस मलिनता के कारण को कर्ममल मानता है, गीता उसे त्रिगुण

---

१. आचारांगनिर्युक्ति, २४४
२. समयसार, १५१
३. अंगुत्तरनिकाय, १।५।९
४. गीता, २।२५

कहती है और बौद्ध-दर्शन मे उसे बाह्यमल कहा गया है। स्वभावतः नीचे की ओर बहने वाला पानी दबाव से ऊपर चढने लगता है, स्वभाव से शीतल जल अग्नि के संयोग से उष्णता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा या चित्त स्वभाव से शुद्ध होते हुए भी त्रिगुणो, कर्मो या बाह्यमलो मे अशुद्ध बन जाता है। लेकिन जैसे ही दबाव समाप्त होता है पानी स्वभावतः नीचे की ओर बहने लगता है, अग्नि का सयोग दूर होने पर जल शीतल होने लगता है। ठीक इसी प्रकार बाह्य सयोगो से अलग होने पर यह आत्मा या चित्त पुन अपनी स्वाभाविक समत्वपूर्ण अवस्था को प्राप्त हो जाता है। सम्यक् आचरण या चारित्र का कार्य इन सयोगो से आत्मा या चित्त को अलग रख कर स्वाभाविक समत्व की दिशा मे ले जाना है।

जैन आचार-दर्शन मे सम्यक्चारित्र का कार्य आत्मा के समत्व का संस्थापन माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते है कि चारित्र ही वास्तव मे धर्म है, जो धर्म है वह समत्व है और मोह एवं क्षोभ से रहित आत्मा की शुद्ध दशा को प्राप्त करना समत्व है।[1] पचास्तिकायसार में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि समभाव ही चारित्र है।[2]

चारित्र के दो रूप—जैन-परम्परा में चारित्र दो प्रकार निरूपित है—१ व्यवहार-चारित्र और २ निश्चयचारित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विविधविधान व्यवहारचारित्र है और आचरण का भावपक्ष या अन्तरात्मा निश्चयचारित्र है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयचारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, चारित्र का यह बाह्यपक्ष ही प्रमुख है।

निश्चयदृष्टि से चारित्र—चारित्र का सच्चा स्वरूप समत्व की उपलब्धि है। चारित्र का यह पक्ष आत्मरमण ही है। निश्चयचारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था मे ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था मे होनेवाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गये है। चेतना मे जब राग, द्वेष, कषाय और वासनाओ की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती है, तभी सच्चे नैतिक एवं धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना जो कि निश्चय-चारित्र का आधार है राग, द्वेष, कषाय, विषयवासना, आलस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन मे जाग्रत् होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगो और वासनाओ से चालित नही होता है, तभी वह सच्चे अर्थो में निश्चय-चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही निश्चय-चारित्र मुक्ति का सोपान है।

व्यवहारचारित्र—व्यवहारचारित्र का सम्बन्ध हमारे मन, वचन और कर्म की

---

१. प्रवचनसार, १।७

२. पचास्तिकायसार, १०७

शुद्धि तथा उस शुद्धि के कारणभूत नियमों से है। सामान्यतया व्यवहारचारित्र में पंच-महाव्रतों, तीन गुप्तियों, पंचसमितियों आदि का सामावेश है। व्यवहारचारित्र भी दो प्रकार का है—१. सम्यक्त्वाचरण और २. संयमाचरण।

व्यवहारचारित्र के प्रकार—चारित्र को देशव्रतीचारित्र और सर्वव्रतीचारित्र ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। देशव्रतीचारित्र का सम्बन्ध गृहस्थ-उपासकों से और सर्वव्रतीचारित्र का सम्बन्ध श्रमण वर्ग से है। जैन-परम्परा में गृहस्थाचार के अन्तर्गत अष्टमूलगुण, षट्कर्म, बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन आता है। श्वेताम्बर परम्परा में अष्टमूलगुणों के स्थान पर सप्तव्यसन त्याग एवं ३५ मार्गानुसारी गुणों का विधान मिलता है। इसी प्रकार उसमें षट्कर्म को षडावश्यक कहा गया है। श्रमणाचार के अन्तर्गत पंचमहाव्रत, रात्रिभोजन निषेध, पंचसमिति, तीन गुप्ति, दस यतिधर्म, बारह अनुप्रेक्षाएँ, बाईस परीषह, अट्ठाइस मूलगुण, बावन अनाचार आदि का विवेचन उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, आवास सम्बन्धी विधि निषेध हैं। इन सबका विवेचन गृहस्थाचार और श्रमणाचार के प्रसंगों में हुआ है। चारित्र का वर्गीकरण गृहस्थ और श्रमण धर्म के अतिरिक्त अन्य अपेक्षाओं से भी हुआ है।

चारित्र का चतुर्विध वर्गीकरण—स्थानांगसूत्र में निर्दोष आचरण की अपेक्षा से चारित्र का चतुर्विध वर्गीकरण किया गया है। जैसे घट चार प्रकार के होते हैं वैसे ही चारित्र भी चार प्रकार का होता है। घट के चार प्रकार है—१. भिन्न (फूटा हुआ), २. जर्जरित, ३. परिस्रावी और ४. अपरिस्रावी। इसी प्रकार चारित्र भी चार प्रकार का होता है—१. **फूटे हुए घड़े के समान**—अर्थात् जब साधक अंगीकृत महाव्रतों को सर्वथा भंग कर देता है तो उसका चारित्र फूटे घड़े के समान होता है। नैतिक दृष्टि से उसका मूल्य समाप्त हो जाता है। २. **जर्जरित घट के समान**—सदोषचारित्र जर्जरित घट के समान होता है। जब कोई मुनि ऐसा अपराध करता है जिसके कारण उसकी दीक्षा-पर्याय का छेद किया जाता है तो ऐसे मुनि का चारित्र जर्जरित घट के समान होता है। ३. **परिस्रावी**—जिस चारित्र मे सूक्ष्म दोष होते हैं वह चारित्र परिस्रावी कहा जाता है। ४. **अपरिस्रावी**—निर्दोष एवं निरतिचार चारित्र अपरिस्रावी कहा जाता है।[1]

चारित्र का पंचविध वर्गीकरण—तत्त्वार्थसूत्र (९।१८) के अनुसार चारित्र पाँच प्रकार का है—१. सामायिक चारित्र, २. छेदोपस्थापनीय चारित्र, ३. परिहारविशुद्धि चारित्र, ४. सूक्ष्मसम्परायचारित्र और ५. यथाख्यात चारित्र।

१. सामायिक चारित्र—वासनाओं, कषायों एवं राग-द्वेष की वृत्तियों से निवृत्ति तथा समभाव की प्राप्ति सामायिक चारित्र है। व्यावहारिक दृष्टि से हिंसादि बाह्य

१. स्थानांग, ४।५९५

पापों से विरति भी सामायिक चारित्र है। सामायिक चारित्र दो प्रकार का है—(अ) इत्वरकालिक—जो थोड़े समय के लिए ग्रहण किया जाता है और (ब) यावत्कथित—जो सम्पूर्ण जीवन के लिए ग्रहण किया जाता है।

२. **छेदोपस्थापनीयचारित्र**—जिस चारित्र के आधार पर श्रमण जीवन में वरिष्ठता और कनिष्ठता का निर्धारण होता है वह छेदोपस्थापनीय चारित्र है। यह सदाचरण का बाह्य रूप है, इसमें आचार के प्रतिपादित नियमों का पालन करना होता है और नियम के प्रतिकूल आचरण पर दण्ड देने की व्यवस्था होती है।

३. **परिहारविशुद्धिचारित्र**—जिस आचरण के द्वारा कर्मों का अथवा दोषों का परिहार होकर निर्जरा के द्वारा विशुद्धि हो वह परिहारविशुद्धिचारित्र है।

४. **सूक्ष्मसम्परायचारित्र**—जिस अवस्था में कषाय-वृत्तिया क्षीण होकर किंचित् रूप में ही अवशिष्ट रही हों, वह सूक्ष्म सम्परायचारित्र है।

५. **यथाख्यातचारित्र**—कषाय आदि सभी प्रकार के दोषों से रहित निर्मल एवं विशुद्ध चारित्र यथाख्यातचारित्र है। यथाख्यातचारित्र निश्चयचारित्र है।

चारित्र का त्रिविध वर्गीकरण

वासनाओं के क्षय, उपशम और क्षयोपशम के आधार पर चारित्र के तीन भेद हैं। १. क्षायिक, २. औपशमिक और ३ क्षायोपशमिक। क्षायिकचारित्र हमारे आत्म-स्वभाव से प्रतिफलित होता है। उसका स्रोत हमारी आत्मा ही है, जब कि औपशमिक-चारित्र में यद्यपि आचरण सम्यक् होता है, लेकिन आत्मस्वभाव से प्रतिफलित नही होता। वह कर्मों के उपशम से प्रकट होता है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में क्षायिकचारित्र मे वासनाओं का निरसन हो जाता है, जब कि औपशमिकचारित्र मे मात्र वासनाओं का दमन होता है। वासनाओं का दमन और वासनाओं के निरसन में जो अन्तर है, वही अन्तर औपशमिक और क्षायिकचारित्र मे है। नैतिक साधना का लक्ष्य वासनाओं का दमन नही, वरन् उसका निरसन या परिष्कार है। अतः चारित्र का क्षायिक प्रकार ही नैतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है।

चारित्र के उपर्युक्त सभी प्रकार आत्मशोधन की प्रक्रियाएँ है। जो प्रक्रिया जितनी अधिक मात्रा में आत्मा को राग, द्वेष और मोह से निर्मल बनाती है, वासनाओं की आग से तप्त मानस को शीतल करती है और संकल्पों और विकल्पों के चंचल झंझावात से बचा कर चित्त को शान्ति एवं स्थिरता प्रदान करती है और समाजिक एवं वैयक्तिक जीवन में समत्व की संस्थापना रखती है, वह उतनी ही अधिक मात्रा में चारित्र के उज्ज्वलतम पक्ष को प्रस्तुत करती है।

बौद्ध-दर्शन और सम्यक्चारित्र

बौद्ध-दर्शन में सम्यक्चारित्र के स्थान पर शील शब्द का प्रयोग हुआ है। बौद्ध-

परम्परा में निर्वाण की प्राप्ति के लिए शील को आवश्यक माना गया है। शील और श्रुत या आचरण और ज्ञान दोनों ही भिक्षु-जीवन के लिए आवश्यक हैं। उसमें भी शील अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। विशुद्धिमार्ग में कहा गया है कि यदि भिक्षु अल्प-श्रुत भी होता है, किन्तु शीलवान है तो शील ही उसकी प्रशंसा का कारण है। उसके लिए श्रुत अपने आप पूर्ण हो जाता है, इसके विपरीत यदि भिक्षु बहुश्रुत भी है किन्तु दुःशील है तो दुःशीलता उसकी निन्दा का कारण है और उसके लिए श्रुत भी सुखदायक नहीं होता है।[1]

शील का अर्थ—बौद्ध आचार्यों के अनुसार जिससे कुशल धर्मों का धारण होता है या जो कुशल धर्मों का आधार है, वह शील है। सद्गुणों के धारण या शीलन के कारण ही उसे शील कहते है। कुछ आचार्यों की दृष्टि मे शिरार्थ शीलार्थ है, अर्थात् जिस प्रकार सिर के कट जाने पर मनुष्य मर जाता है वैसे ही शील के भंग हो जाने पर सारा गुण रूपी शरीर ही विनष्ट हो जाता है। इसलिए शील को शिरार्थ कहा जाता है।[2]

विशुद्धिमार्ग मे शील के चार रूप वर्णित है।[3]—१. चेतना शील २. चैत्तसिक शील ३. संवर शील और ४. अनुल्लंघन शील।

१. **चेतना शील**—जीव हिंसा आदि से विरत रहने वाले या व्रत-प्रतिपत्ति (व्रता-चार) पूर्ण करनेवाली चेतना ही चेतना शील है। जीव-हिंसा आदि छोड़नेवाले व्यक्ति का कुशल-कर्मों के करने का विचार चेतना शील है।

२. **चैतसिक शील**—जीव हिंसा आदि से विरत रहने वाले की विरति चैतसिक शील है, जैसे वह लोभ रहित चित्त से विहरता है।

३. **संवर शील**—संवर शील पाँच प्रकार का है—१. प्रतिमोक्षसंवर, २. स्मृति-संवर, ३. ज्ञानसंवर, ४. क्षान्तिसंवर और ५. वीर्यसंवर।

४. **अनुल्लघन शील**—ग्रहण किये हुए व्रत नियम आदि का उल्लंघन न करना यह अनुल्लंघन शील है।

शील के प्रकार

विसुद्धिमग्ग मे शील का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। यहाँ उनमे से कुछ रूप प्रस्तुत है।

शील का द्विविध वर्गीकरण[4]

१. चारित्र-वारित्र के अनुसार शील दो प्रकार का माना गया है। भगवान् के द्वारा निर्दिष्ट 'यह करना चाहिए' इस प्रकार विधि रूप मे कहे गये शिक्षा-पदों या नियमों का

१. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० ४९
२. वही, पृ० ९
३. वही, पृ० ८
४. वही, पृ० १३-१४

पालन करना 'चारित्र-शील' है। इसके विपरीत 'यह नही करना चाहिए' इस प्रकार निषिद्ध कर्म न करना 'वारित्र-शील' है। चारित्र-शील विधेयात्मक है, वारित्र-शील निषेधात्मक है।

२. निश्रित और अनिश्रित के अनुसार शील दो प्रकार का है। निश्रय दो प्रकार के होते हैं—तृष्णा-निश्रय और दृष्टि-निश्रय। भव-सपत्त को चाहते हुए फलाकाक्षा से पाला गया शील तृष्णा-निश्रित है। मात्र शील से ही विशुद्धि होती है इस प्रकार की दृष्टि से पाला गया शील दृष्टि-निश्रित है। तृष्णा-निश्रित और दृष्टि-निश्रित दोनों प्रकार के शील निम्न कोटि के है। तृष्णा-निश्रय और दृष्टि-निश्रय से रहित शील अनिश्रित-शील है। यही अनिश्रित-शील निर्वाण मार्ग का साधक है।

३. कालिक आधार पर शील दो प्रकार का है। किसी निश्चित समय तक के लिए ग्रहण किया गया शील काल्पर्यन्त-शील कहा जाता है जबकि जीवन-पर्यन्त के लिए ग्रहण किया गया शील आप्राणकोटिक शील कहा जाता है। जैन परम्परा मे इन्हे क्रमशः इत्वरकालिक और यावत्कथित कहा गया है।

४. सपर्यन्त और अपर्यन्त के आधार पर शील दो प्रकार का है। लाभ, यश, जाति अथवा शरीर के किसी अग एव जीवन की रक्षा के लिए जिस शील का उल्लघन कर दिया जाता है वह सपर्यन्तशील है। उदाहरणार्थ, किसी विशेष शील नियम का पालन करते हुए जाति-शरीर के किसी अग अथवा जीवन की हानि की सम्भावना को देखकर उस शील का त्याग कर देना। इसके विपरीत जिस शील का उल्लघन किसी भी स्थिति मे नही किया जाता, वह अपर्यन्त शील है। तुलनात्मक दृष्टि मे ये नैतिकता के सापेक्ष और निरपेक्ष पक्ष है। जैन परम्परा मे इन्हे अपवाद और उत्सर्ग मार्ग कहा गया है।

५. लौकिक और अलौकिक के आधार पर शील दो प्रकार का है। जिस शील का पालन सामाजिक जीवन के लिए होता है और जो सास्रव है, वह लौकिक शील है। जिस शील का पालन निर्वेद विराग और विमुक्ति के लिए होता है और जो अनास्रव है वह लोकोत्तर शील है। जैन-परम्परा मे इन्हे क्रमश. व्यवहार-चारित्र और निश्चय-चारित्र कहा गया है।

शील का त्रिविध वर्गीकरण[1]

शील का त्रिविध वर्गीकरण पाँच त्रिको मे किया गया है—

१. हीन, मध्यम और प्रणीत के अनुसार शील तीन प्रकार का है। दूसरो की निन्दा की दृष्टि मे अथवा उन्हे हीन बताने के लिए पाला गया शील हीन है। लौकिक शील या सामाजिक नियम-मर्यादाओ का पालन मध्यम शील है और लोकोत्तर शील प्रणीत है। एक दूसरी अपेक्षा मे फलाकाक्षा मे पाला गया शील हीन है। अपनी

१. विशुद्धिमार्ग, पृ० १५-१६

मुक्ति के लिए पाला गया शील मध्यम है और सभी प्राणियों की मुक्ति के लिए पाला गया पारमिता-शील प्रणीत है।

२. आत्माधिपत्य, लोकाधिपत्य और धर्माधिपत्य की दृष्टि से भी शील तीन प्रकार का है। आत्म-गौरव या आत्म-सम्मान के लिए पाला गया शील आत्माधिपत्य है। लोक-निन्दा से बचने के लिए अथवा लोक मे सम्मान अर्जित करने के लिए पाला गया शील लोकाधिपत्य है। धर्म के महत्त्व, धर्म के गौरव और धर्म के सम्मान के लिए पाला गया शील धर्माधिपत्य है।

३. परामृष्ट, अपरामृष्ट और प्रतिप्रश्रब्धि के अनुसार शील तीन प्रकार का है। मिथ्यादृष्टि लोगों का आचरण परामृष्ट शील है। मिथ्यादृष्टि लोगो मे भी जो कल्याण-कर या शुभ कर्मो मे लगे हुए है उनका शील अपरामृष्ट है, जब कि सम्यक्दृष्टि के द्वारा पाला गया शील प्रतिप्रश्रब्धि शील है।

४. विशुद्ध, अशुद्ध और वैमतिक के अनुसार शील तीन प्रकार का है। आपत्ति या दोष से रहित शील विशुद्ध शील है। आपत्ति या दोषयुक्त शील अविशुद्ध शील है। दोष या उल्लघन सम्बन्धी बातों के बारे मे जो सदेह मे पड़ गया है, उसका शील वैमतिकशील है।

५. शैक्ष्य, अशैक्ष्य और न-शैक्ष्य-न-अशैक्ष्य के अनुसार शील तीन प्रकार का है। मिथ्या दृष्टि का शील न-शैक्ष्य-न अशैक्ष्य है। सम्यक्दृष्टि का शील शैक्ष्य है और अर्हन् का शील अशैक्ष्य है।

विशुद्धिमग्ग मे शील का चतुर्विध और पचविध वर्गीकरण भी अनेक रूपों मे वर्णित है। लेकिन विस्तार भय एवं पुनरावृत्ति के कारण यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक नही है।

शील का प्रत्युपस्थान—काया की पवित्रता, वाणी की पवित्रता और मन की पवित्रता ये तीन प्रकार की पवित्रताएँ शील के जानने का आकार (प्रत्युपस्थान) है अर्थात् कोई व्यक्ति शीलवान् है या दुःशील है, यह उसके मन, वचन और कर्म की पवित्रता के आधार पर ही जाना जाता है।

शील का पदस्थान—जिन आधारों पर शील ठहरता है, उन्हे शील का पदस्थान कहा जाता है। लज्जा और संकोच इसके पदस्थान है। लज्जा और सकोच के होने पर ही शील उत्पन्न होता है और स्थित रहता है, उनके न होने पर न तो उत्पन्न होता और न स्थिर रहता है।

शील के गुण[1]—शील के पांच गुण हैं-१. शीलवान व्यक्ति अप्रमादी होता है और अप्रमादी होने से वह विपुल धन-सम्पत्ति प्राप्त करता है। २. शील के पालन से व्यक्ति की ख्याति या प्रतिष्ठा बढती है। ३. सचरित्र व्यक्ति को कहीं भी भय और संकोच

१. विशुद्धिमार्ग(भूमिका), पृ० २१

नहीं होता। ४. शीलवान सदैव ही अप्रमत्त चेतनावाला होता है और इसलिए उसके जीवन का अन्त भी जाग्रत चेतना की अवस्था में होता है। ५. शील के पालन से सुगति या स्वर्ग की प्राप्ति है।

अष्टांग साधनापथ और शील—बुद्ध के अष्टाग साधना-पथ मे सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव ये तीन शील-स्कन्ध है। यद्यपि मज्झिम निकाय और अभिधर्मकोश व्याख्या के अनुसार शील-स्कन्ध मे उपर्युक्त तीनो अंगो का ही समावेश किया गया है[1] लेकिन यदि हम शील को न केवल दैहिक वरन् मानसिक भी मानते है तो हमे समाधि-स्कन्ध में से सम्यक्व्यायाम को और प्रज्ञा-स्कन्ध मे से सम्यक् संकल्प को ही शील-स्कन्ध मे समाहित करना पड़ेगा। क्योंकि संकल्प आचरण का चेतसिक आधार है और व्यायाम उसकी वृद्धि का प्रयत्न। अतः उन्हे शील-स्कन्ध में ही लेना चाहिए।

यदि हम शील-स्कन्ध के तीनों अंग तथा समाधि-स्कन्ध के सम्यक् व्यायाम और प्रज्ञा-स्कन्ध के सम्यक् संकल्प को लेकर बौद्ध-दर्शन मे शील के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करें तो उसका चित्र इस प्रकार से होगा—

सम्यक् वाचा — १. मृषावाद विरमण
२. पिशुनवचन विरमण
३. परुषवचन विरमण
४. व्यर्थसंलाप विरमण

सम्यक् कर्मान्त — १. अदत्तादान विरमण
२. प्राणातिपात विरमण
३. कामेषुमिथ्याचार विरमण
४. अब्रह्मचर्य विरमण

सम्यक् आजीव — (अ) भिक्षु नियमों के अनुसार भिक्षा प्राप्त करना
(ब) गृहस्थ नियमों के अनुसार आजीविका अर्जित करना

सम्यक् व्यायाम — १. अनुत्पन्न अकुशल के उत्पन्न नही होने देने के लिए प्रयत्न
२. उत्पन्न अकुशल के प्रहाण के लिए प्रयत्न
३. अनुत्पन्न कुशल के उत्पादन के लिए प्रयत्न
४. उत्पन्न कुशल के वैपुल्य के लिए प्रयत्न

सम्यक् संकल्प — १. नैष्कर्म्य संकल्प
२. अव्यापाद संकल्प
३. अविहिंसा संकल्प

यदि तुलनात्मक दृष्टि से बौद्ध-दर्शन के शील के स्वरूप पर विचार करे तो ऐसा

---

१. देखिए—अर्ली मोनास्टिक बुद्धिज्म, पृ० १४२-४३

प्रतीत होता है कि वह जैन-दर्शन की मान्यताओं के निकट ही है। यद्यपि दोनों परम्पराओं में नाम और वर्गीकरण की पद्धतियों का अन्तर है. लेकिन दोनों का आन्तरिक स्वरूप समान ही है। सम्यक् आचरण के लिए जो अपेक्षायें बौद्ध जीवन-पद्धति में की गयी है वे ही अपेक्षायें जैन आचार-दर्शन में भी स्वीकृत रही है। सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव के रूप में प्रतिपादित ये विचार जैन दर्शन में भी उपलब्ध हैं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों परम्पराएँ एक दूसरे के काफी निकट रही है।

वैदिक परम्परा में शील या सदाचार

सम्यक् चारित्र को हिन्दू धर्मसूत्रों में शील, सामयाचारिक, सदाचार या शिष्टाचार कहा गया है। गीता की निष्काम कर्म और सेवा की अवधारणाओं को भी सम्यक्चारित्र का पर्यायवाची माना जा सकता है। गीता जिस निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन करती है, वस्तुतः वह मात्र कर्तव्य बुद्धि से एवं कर्ताभाव का अभिमान त्याग कर किया गया ऐसा कर्म है, जिसमें फलाकाक्षा नही होती। क्योंकि इस प्रकार का कर्म (आचरण) कर्म-बन्धन कारक नही होता है अतः इसे अकर्म भी कहते है। उस आचरण को जो बन्धन हेतु न बनकर मुक्ति का हेतु होता है, जैन परम्परा में सम्यक्चारित्र और गीता में निष्काम कर्म या अकर्म कहा गया है। गीता के अनुसार निष्काम कर्म या कर्मयोग के अन्तर्गत दैवीय गुणों अर्थात् अहिंसा, आर्जव, स्वाध्याय, दान, संयम, निर्लोभता, शौच आदि सद्गुणों का सम्पादन, स्वधर्म अर्थात् अपने वर्ण और आश्रम के कर्तव्यों का पालन और लोकसंग्रह (लोक-कल्याणकारी कार्यों का सम्पादन) आता है। इसके अतिरिक्त भगवद्भक्ति एवं अतिथि सेवा भी उसकी चारित्रिक साधना का एक अंग है।

शील—मनुस्मृति में शील, साधुजनों का आचरण (सदाचरण) और मन की प्रसन्नता (इच्छा, आकाक्षा आदि मानसिक विक्षोभों से रहित मन की प्रशान्त अवस्था) को धर्म का मूल बताया गया है।[१] वैदिक आचार्य गोविन्दराज ने शील की व्याख्या रागद्वेष के परित्याग के रूप में की है (शीलं रागद्वेषपरित्याग इत्याह[२])। हारीत के अनुसार ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तिता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्य, मैत्रता, प्रियवादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्य और प्रशन्तता—ये तेरह प्रकार का गुण समूह शील है।[३]

सामयाचारिक—आपस्तम्ब धर्मसूत्र के भाष्य में सामयाचारिक शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है—आध्यात्मिक व्यवस्था को 'समय' (धर्मज्ञसमयः) कहते है वह

---

१. मनुस्मृति २।६

२. (अ) मनुस्मृति टीका २।६ (ब) हिन्दू धर्मकोश, पृ० ६३१

३. वही

तीन प्रकार का होता है—विधि, प्रतिषेध और नियम । आचारों का मूल 'समय' (सिद्धात) में होता है । 'समय' से उत्पन्न होने के कारण वे सामयाचरिक कहलाते है ।[1] अभ्युदय और निःश्रेयम के हेतु अपूर्व नामक आत्मा के गुण को धर्म कहते है । वैदिक परम्परा का यह सामयाचारिक शब्द जैन परम्परा के समाचारी (समयाचारी) और सामयिक के अधिक निकट है। आचाराग मे 'समय' शब्द समता के अर्थ मे और सूत्र-कृताग मे 'सिद्धात' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । जैन परम्परा मे समता से युक्त आचार को 'सामायिक' और सिद्धान्त (शास्त्र) मे निसृत आचार नियमो को 'समाचारी' कहा गया है । गीता भी शास्त्रविधान के अनुसार आचरण का निर्देश कर सामयाचारिक या समाचारी के पालन की धारणा को पुष्ट करती है ।

शिष्टचार—शिष्ट आचार शिष्टाचार कहा जाता है । शिष्ट शब्द की व्याख्या करते हुए वशिष्ठधर्म सूत्र मे कहा है कि 'जो स्वार्थमय कामनाओ से रहित है, वह शिष्ट है (शिष्ट पुनरकामात्मा)[2] इस आधार पर शिष्टाचार का अर्थ होगा--निष्काम भाव से किया जाने वाला आचार शिष्टाचार है अथवा नि स्वार्थ व्यक्ति का आचरण शिष्टाचार है । ऐसा आचार धर्म का कारणभूत होने से प्रमाणभूत माना गया है । इस प्रकार यहा शिष्टाचार का अर्थ, सामान्यतया शिष्टाचार मे हम जो अर्थ ग्रहण करते है, उससे भिन्न है । शिष्टाचार नि स्वार्थ या निष्काम कर्म है । निष्काम कर्म या सेवा की अवधारणा गीता मे स्वीकृत है ही और उसे जैन तथा बौद्ध परम्पराओ ने भी पूरी तरह मान्य किया है ।

सदाचार—मनु के अनुसार ब्रह्मावर्त मे निवास करने वाले चारो वर्णों का जो परम्परागत आचार है वह सदाचार है ।[3] सदाचार के तीन भेद है—१—देशाचार २—जात्याचार और ३—कुलाचार । विभिन्न प्रदेशो मे परम्परागत रूप मे चले आते आचार नियम 'देशाचार' कहे जाते है । प्रत्येक देश मे विभिन्न जातियो के भी अपने-अपने विशिष्ट आचार नियम होते है, ये 'जात्याचार' कहे जाते है । प्रत्येक जाति के विभिन्न कुलों मे भी आचारगत भिन्नताएँ होती है—प्रत्येक कुल की अपनी आचार-परम्पराएँ होती है, जिन्हे 'कुलाचार' कहा जाता है । देशाचार, कुलाचार और जात्याचार श्रुति और स्मृतियो मे प्रतिपादित आचार नियमो के अतिरिक्त होते है । सामान्यतया हिन्दू धर्म शास्त्रकारो ने इनके पालन की अनुशसा की है । यही नही, कुछ स्मृतिकारों के द्वारा तो ऐसे आचार नियम श्रुति, स्मृति आदि के विरुद्ध होने पर पालनीय कहे गये है । बृहस्पति का तो कहना है— बहुजन और चिरकालमानित देश, जाति और कुल के आचार (श्रुति विरुद्ध होने पर भी) पालनीय है, अन्यथा प्रजा में क्षोभ उत्पन्न होता है और राज्य की शक्ति और कोष क्षीण हो जाता है ।[4] याज्ञवल्क्य

१. आपस्तम्ब धर्मसूत्र-भाष्य (हरदत्त) १।१।१-३ २. वशिष्ठ-धर्मसूत्र १।६
३. मनुस्मृति २।१७--१८ ४. हिन्दू धर्मकोश, पृ० ६२५

ने आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय सम्मिलित किये हैं :—१. संस्कार, २. वेदपाठी ब्रह्मचारियों के चारित्रिक नियम, ३. विवाह (पति-पत्नी के कर्तव्य), ४. चार वर्णो एवं वर्णशंकरों के कर्तव्य, ५. ब्राह्मण गृहपति के कर्तव्य, ६. विद्यार्थी जीवन की समाप्ति पर पालनीय नियम, ७. भोजन के नियम, ८. धार्मिक पवित्रता, ९. श्राद्ध, १०. गणपति पूजा, ११. गृहशान्ति के नियम, १२. राजा के कर्तव्य आदि।[२]

यद्यपि सदाचार के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि सदाचार का सम्बन्ध नैतिकता या साधनापरक आचार में न होकर लोक-व्यवहार (लोक-रूढि) या बाह्याचार के विधि निषेधो से अधिक है। जब कि जैन-परम्परा के सम्यक् चारित्र का सम्बन्ध साधनात्मक एवं नैतिक जीवन से है। जैनधर्म लोक-व्यवहार की उपेक्षा नही करता है फिर भी उसकी अपनी मर्यादाएँ है :—

(१) उसके अनुसार वही लोक-व्यवहार पालनीय है जिसके कारण सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र (गृहीत व्रत, नियम आदि) मे कोई दोष नही लगता हो। अतः निर्दोष लोक-व्यवहार ही पालनीय है, सदोष नही।

(२) दूसरे यदि कोई आचार (बाह्याचार) निर्दोष है किन्तु लोक-व्यवहार के विरुद्ध है तो उसका आचरण नही करना चाहिये (यदपि शुद्धं तदपि लोकविरुद्धं न समाचरेत्) किन्तु इसका विलोम सही नही है अर्थात् सदोष आचार लोकमान्य होने पर भी आचरणीय नही है।

उपसंहार

सामान्यतया जैन, बुद्ध और गीता के आचारदर्शनों मे सम्यक्चारित्र, शील एवं सदाचार का तात्पर्य राग-द्वेष, तृष्णा या आसक्ति का उच्छेद रहा है। प्राचीन साहित्य मे इन्हे ग्रन्थि या हृदयग्रन्थि कहा गया है। ग्रन्थि का अर्थ गाँठ होता है, गाँठ बाँधने का कार्य करती है, चूँकि ये तत्त्व व्यक्ति को संसार से बाँधते है और परमसत्ता से पृथक् रखते है इसीलिये इन्हे ग्रन्थि कहा गया है। इस गाँठ का खोलना ही साधना है, चारित्र है या शील है। सच्चा निर्ग्रन्थ वही है जो इस ग्रन्थी का मोचन कर देता है। आचार के समग्र विधि-निषेध इसी के लिये है।

वस्तुतः सम्यक्चारित्र या शील का अर्थ काम, क्रोध, लोभ, छल-कपट आदि अशुभ प्रवृत्तियों से दूर रहना है। तीनों ही आचारदर्शन साधक को इनसे बचने का निर्देश देते है। जैनपरम्परा के अनुसार व्यक्ति जितना क्रोध, मान, माया (कपट) और लोभ की वृत्तियों का शमन एवं विलयन करेगा उतना ही वह साधना या सच्चरित्रता के क्षेत्र में आगे बढ़ेगा। गीता कहती है जब व्यक्ति काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरी प्रवृत्तियों से ऊपर उठकर अहिंसा, क्षमा आदि दैवी सद्गुणों का सम्पादन करेगा तो वह अपने को

२. वही, पृ० ७४-७५

परमात्मा के निकट पायेगा। 'सद्गुणों का सम्पादन और दुर्गुणों से बचाव' एक ऐसा तत्त्व है, जहाँ न केवल सभी भारतीय अपितु अधिकाश पाश्चात्य आचारदर्शन भी समस्वर हो उठते हैं। चाहे इनके विस्तार-क्षेत्र एवं प्राथमिकता के प्रश्न को लेकर उनमे मतभेद हो। उनमें विवाद इस बात पर नही है कि कौन सद्गुण है और कौन दुर्गुण है, अपितु विवाद इस बात पर है कि किस सद्गुण का किस सीमा तक पालन किया जावे और दो सद्गुणों के पालन मे विरोध उपस्थित होने पर किसे प्राथमिकता दी जाने। उदाहरणार्थ 'अहिसा सद्गुण है' यह सभी मानते है किन्तु अहिंसा का पालन किस सीमा तक किया जावे, इस प्रश्न पर मतभेद रखते है। इसी प्रकार न्याय्य (जस्टिस) और दयालुता दोनों को सभी ने सद्गुणों के रूप मे स्वीकार किया गया है किन्तु जब न्याय्य और दयालुता मे विरोध हो अर्थात् दोनों का एक साथ सम्पादन सम्भव न हो तो किसे प्रधानता दी जावे, इस प्रश्न पर मतभेद हो सकता है। फिर भी सद्गुणों का यथाशक्ति सम्पादन किया जावे इसे सभी स्वीकार करते है।

वस्तुतः सम्यक्चारित्र या शील, मन, वचन और कर्म के माध्यम से वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में समत्व की संस्थापन का प्रयास है, वह व्यक्ति के जीवन के विभिन्न पक्षों मे एक साम सन्तुलन स्थापित कर उसके आन्तरिक संघर्ष को समाप्त करने की दिशा मे उठाया गया कदम है। इतना ही नही, वह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष का भी संस्पर्श करता है। व्यक्ति और समाज के मध्य तथा समाज और समाज के मध्य होनेवाले संघर्षों की सम्भावनाओं के अवसरों को कम कर सामाजिक समत्व की संस्थापना भी सम्यक्चारित्र का लक्ष्य है।

इन्ही लक्ष्यों को ध्यान मे रखते हुए जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओ मे गृहस्थ और श्रमण के आचारविषयक अनेक सामान्य और विशिष्ट नियमों या विधियों का प्रतिपादन किया गया है।

७ सम्यक् तप तथा योग-मार्ग

मामान्य रूप में जैन-आगमों में माधना का त्रिविध-मार्ग प्रतिपादित है, लेकिन प्राचीन आगमों मे एक चतुर्विध मार्ग का भी वर्णन मिलता है। उत्तराध्ययन और दर्शन-पाहुड में चतुर्विध मार्ग का वर्णन है।[1] माधना का चौथा अग 'सम्यक् तप' कहा गया है। जैमे गीता मे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग के माथ माथ ध्यानयोग का भी निरूपण है, वैमे ही जैनपरम्परा में मम्यग्ज्ञान, मम्यग्दर्शन और मम्यक्चारित्र के माथ माथ मम्यक् तप का भी उल्लेख है। परवर्ती परम्पराओं मे ध्यानयोग का अन्तर्भाव कर्मयोग मे और सम्यक् तप का अन्तर्भाव मम्यक्चारित्र मे हो गया। लेकिन प्राचीन युग मे जैनपरम्परा मे मम्यक् तप का, बौद्ध परम्परा मे ममाधि मार्ग का तथा गीता मे ध्यानयोग का स्वतन्त्र स्थान रहा है। अत तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि मे यहा सम्यक् तप का विवेचन स्वतंत्र रूप मे किया जा रहा है।

माधारणतः यह मान लिया जाता है कि जैन परम्परा मे ध्यानमार्ग या ममाधिमार्ग का विधान नही है, लेकिन यह धारणा भ्रान्त ही है। जिम प्रकार योग परम्परा मे अष्टागयोग का विधान है, उमी प्रकार जैन परम्परा मे इम योगमार्ग का विधान द्वादशाग रूप मे हुआ है। इमे ही मम्यक् तप का मार्ग कहा जाता है। जैन परम्परा के मम्यक् तप की गीता के ध्यानयोग तथा बौद्ध परम्परा के समाधिमार्ग मे बहुत कुछ ममानता है, जिम पर हम अगले पृष्ठों मे विचार करेंगे।

नैतिक जीवन एवं तप—तपस्यामय जीवन एवं नैतिक जीवन परस्पर मापेक्ष पद है। त्याग या तपस्या के बिना नैतिक जीवन की कल्पना अपूर्ण है। तप नैतिक जीवन का ओज है, शक्ति है। तप-शून्य नैतिकता खोखली है, तप नैतिकता की आत्मा है। नैतिकता का विशाल प्रामाद तपस्या की ठोम बुनियाद पर स्थित है।

नैतिक जीवन की माधना-प्रणाली, चाहे उमका विकाम पूर्व मे हुआ हो या पश्चिम मे, हमेशा तप मे ओतप्रोत रही है। नैतिकता की सैद्धान्तिक व्याख्या चाहे 'तप' के अभाव में सम्भव हो, लेकिन नैतिक जीवन तप के अभाव मे मम्भव नही।

नैतिक व्याख्या का निम्नतम मिद्धान्त भी, जो वैयक्तिक सुखो की उपलब्धि में ही नैतिक साधना की इतिश्री मान लेता है, तप-शून्य नही हो मकता। यह मिद्धान्त उम मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार करके चलता है कि वैयक्तिक जीवन मे भी इच्छाओं का संघर्ष चलता रहता है और बुद्धि उनमे से किमी एक को चुनती है, जिमकी मन्तुष्टि

1. उत्तराध्ययन, २८।२,३,३५, दर्शनपाहुड, ३२

की जानी है और यह सन्तुष्टि ही सुख उपलब्धि का साधन बनती है। लेकिन विचार पूर्वक देखें तो यहाँ भी त्यागभावना मौजूद है, चाहे अपनी अल्पतम मात्रा मे ही क्यो न हो, क्योंकि यहाँ भी बुद्धि की बात मानकर हमे सघर्षशील वासनाओ मे एक समय के लिए एक का त्याग करना ही होता है। त्याग की भावना ही तप है। दूसरे तप का एक अर्थ होता है—प्रयत्न, प्रयास, और इस अर्थ मे भी वहाँ 'तप' है, क्योकि वासना की पूर्ति भी बिना प्रयास के सम्भव नही है। लेकिन यह सब तो तप का निम्नतम रूप है, यह उपादेय नही है। हमारा प्रयोजन तो यहाँ मात्र इतना दिखाना था कि कोई भी नैतिक प्रणाली तपःशून्य नही हो सकती।

जहाँ तक भारतीय नैतिक विचारधाराओ की, आचार-दर्शनो की, बात है, उनमे से लगभग सभी का जन्म 'तपस्या' की गोद मे हुआ, सभी उसीमे पले एवं विकसित हुए हैं। यहाँ तो घोर भौतिकतावादी अजित-केसकम्बलिन् और नियतिवादी गोशालक भी तप-साधना में प्रवृत्त रहते है, फिर दूसरी विचार सरणियो मे निहित तप के महत्त्व पर तो शंका करने का प्रश्न ही नही उठता। हाँ, विभिन्न विचार-सरणियो मे तपस्या के लक्ष्य के सम्बन्ध मे मत-भिन्नता हो सकती है, तप के स्वरूप के सम्बन्ध में विचार-भेद हो सकता है, लेकिन तपस्या के तथ्य से इनकार नही किया जा सकता।

तप-साधना भारतीय नैतिक जीवन एव सस्कृति का प्राण है। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों मे "भारतीय सस्कृति मे जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त एव महत्त्व-पूर्ण तत्त्व है, वह सब तपस्या मे ही सम्भूत है, तपस्या से ही इस राष्ट्र का बल या ओज उत्पन्न हुआ है····तपस्या भारतीय दर्शनशास्त्र की ही नही, किन्तु उसके समस्त इतिहास की प्रस्तावना है···प्रत्येक चिन्तनशील प्रणाली चाहे वह आध्यात्मिक हो चाहे आधिभौतिक, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है···उसके वेद, वेदाग, दर्शन, पुराण, धर्मशास्त्र आदि सभी विद्या के क्षेत्र जीवन की साधनारूप तपस्या के एक-निष्ठ उपासक है।"[1]

भारतीय नैतिक जीवन या आचार-दर्शन मे तप के महत्त्व को अधिक स्पष्ट करते हुए काका कालेलकर लिखते है, "बुद्धकालीन भिक्षुओं की तपश्चर्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्य (कालीन) सस्कृति का विस्तार हो पाया। शकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का सस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ।········बगाल के चैतन्य महाप्रभु (जो) मुखशुद्धि के हेतु एक हर्र भी नही रखते थे, उन्ही से बगाल की वैष्णव सस्कृति विकसित हुई।"[2]

यह सब तो भूतकाल के तथ्य है, लेकिन वर्तमान युग का जीवन्त तथ्य है गाधी

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ७१–७२।
२. जीवनसाहित्य, द्वितीय भाग, पृ० १९७-१९८

और अन्य भारतीय नेताओं का तपोमय जीवन, जिसने अहिंसक क्रान्ति के आधार पर देश को स्वतन्त्रता प्रदान की। वस्तुतः तपोमय जीवन प्रणाली ही भारतीय नैतिकता का उज्ज्वलतम पक्ष है और उसके बिना भारतीय आचार-दर्शन को चाहे वह जैन, बौद्ध या हिन्दू आचार-दर्शन हो, समुचित रूप से समझा नहीं जा सकता। नीचे तप के महत्त्व, लक्ष्य, प्रयोजन एवं स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय साधना पद्धतियों के दृष्टिकोणों को देखने एवं उनका समीक्षात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है।

जैन साधना-पद्धति में तप का स्थान—जैन तीर्थंकरों एवं विशेषकर महावीर का जीवन ही, जैन-साधना में तप के स्थान का निर्धारण करने के हेतु एक सबलतम साक्ष्य है। महावीर के साधनाकाल (साढ़े बारह वर्ष) में लगभग ग्यारह वर्ष तो निराहार गिने जा सकते हैं। महावीर का यह सारा साधना-काल स्वाध्याय, आत्म-चिन्तन, ध्यान और कायोत्सर्ग से भरा है। जिस आचार-दर्शन का शास्ता अपने जागृत जीवन में तप का ऐसा उज्ज्वलतम उदाहरण प्रस्तुत करता हो, उसकी साधना-पद्धति तपः शून्य कैसे हो सकती है? उस शास्ता का तपोमय जीवन अतीत से वर्तमान तक जैन साधकों को तप-साधना की प्रेरणा देता रहा है। आज भी सैकड़ों जैन साधक ऐसे मिलेंगे जो ८-१० दिन ही नहीं, वरन् एक और दो-दो माह तक केवल उष्ण जल पर रहकर तप-साधना करते हैं, ऐसे अनेक होंगे जिनके भोजन के दिनों का योग वर्ष में दो-तीन माह से अधिक नहीं बैठता, शेष सारा समय उपवास आदि तपस्या में व्यतीत होता है।

जैन-साधना समत्वयोग की साधना है और यही समत्वयोग आचरण के व्यावहारिक क्षेत्र में अहिंसा बन जाता है, और यही अहिंसा निषेधात्मक साधना-क्षेत्र में संयम कही जाती है और संयम ही क्रियात्मक रूप में तप है। अहिंसा, संयम और तप अपनी गहन विवेचना में एक दूसरे के पर्यायवाची ही प्रतीत होते हैं। अभिव्यंजना की दृष्टि से चाहे तो हम इन्हें अलग रख सकते हैं और उसी अपेक्षा से अलग-अलग अर्थ भी ध्वनित करते हैं। अहिंसा, संयम और तप मिलकर ही धर्म के समग्र स्वरूप को उपस्थित करते हैं। संयम और तप अहिंसा की दो पाखे हैं। जिनके बिना अहिंसा की गति एवं विकास अवरुद्ध हो जाता है।

तप और संयम से युक्त अहिंसा-धर्म की मंगलमयता का उद्घोष करते हुए जैनाचार्य कहते है—'धर्म मंगलमय है, कौन सा धर्म? अहिंसा, संयम और तपमय धर्म ही सर्वोत्कृष्ट तथा मंगलमय है। जो इस धर्म के पालन में दत्तचित्त है उसे मनुष्य तो क्या, देवता भी नमन करते हैं।'[1]

जैन-साधना का लक्ष्य मोक्ष या शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि है और जो केवल तप

१. दशवैकालिक, १।१

साधना (अविपाक निर्जरा) से ही सम्भव है। जैन साधना मे तप का क्या स्थान है, इस तथ्य के साक्षी जैनागम ही नही है वरन् बौद्ध और हिन्दू आगमो मे भी जैन-साधना के तपोमय स्वरूप का वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

हिन्दू साधना-पद्धति में तप का स्थान—वैदिक साधना चाहे प्रारम्भिक काल मे तप प्रधान (निवृत्तिपरक) न रही हो, लेकिन विकासचरण में श्रमण-परम्परा से प्रभावित हो, समन्वित हो, तपोमय साधना से युक्त हो गयी, वैदिक ऋषि तप की महत्ता का सबलतम शब्दो मे उद्घोष करते है। वे कहते है, तपस्या से ही ऋत और सत्य उत्पन्न हुए,[2] तपस्या से ही वेद उत्पन्न हुए[3], तपस्या से ही ब्रह्म खोजा जाता है[4], तपस्या से ही मृत्यु पर विजय पायी जाती है और ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।[5] तपस्या के द्वारा ही तपस्वी-जन लोक-कल्याण का विचार करते है[6] और तपस्या से ही लोक मे विजय प्राप्त की जाती है।[7] इतना ही नही, वे तो तप रूप साधन को साध्य के तुल्य मानते हुए कहते है—'तप ही ब्रह्म है।" जैन-साधना मे भी तप को आत्म-गुण मानकर उसे साध्य और साधन दोनो रूप मे स्वीकार किया गया है।[8]

आचार्य मनु कहते है कि तपस्या से ऋषिगण त्रैलोक्य के चराचर प्राणियों को देखते है,[9] जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर इस संसार मे है, वह सब तपस्या से साध्य है। तपस्या की शक्ति दुरतिक्रम है।[10] महापातकी और निम्न आचरण करनेवाले भी तपस्या से तप्त होकर किल्विषी योनि से मुक्त हो जाते है।[11]

तप की महत्ता के सम्बन्ध मे और भी सैकड़ो साक्ष्य हिन्दू आगम ग्रन्थो से प्रस्तुत किये जा सकते है। लेकिन विस्तार-भय से केवल गोस्वामी तुलसीदास जी के दो चरण प्रस्तुत करना पर्याप्त होगा—वे कहते है, **तप सुखप्रद सब दोष नसावा** तथा '**करउ जाइ तप अस जिय जानी।**'

बौद्ध साधना-पद्धति में तप का स्थान—यह स्पष्ट तथ्य है कि 'तप' शब्द आचार के जिस कठोर अर्थ मे जैन और हिन्दू परम्परा मे प्रयुक्त हुआ है, वह बौद्ध साधना मे उसकी मध्यममार्गी साधना के कारण उतने कठोर अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। बौद्ध साधना मे तप का अर्थ है—चित्त शुद्धि का सतत प्रयास। बौद्ध-साधना तप को प्रयत्न

---

१. देखिए—श्रीमद्भागवत, ५।२, मज्झिमनिकाय-चूल दुक्खक्खन्ध सुत्त
२. ऋग्वेद, १०।१९०।१
३. मनुस्मृति, ११।२४३
४. मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
५. अथर्ववेद, ११।३।५।१९
६. वही, १९।५।४१
७. शतपथब्राह्मण, ३।४।४।२७
८. उत्तराध्ययन, २८।११, तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।२।३।४
९. मनुस्मृति, ११।२३७
१०. वही, ११।२३८
११. वही, ११।२३९

या प्रयास के अर्थ में ही ग्रहण करती है और इसी अर्थ में बौद्ध साधना तप का महत्त्व स्वीकार करके चलती है। भगवान् बुद्ध महामंगलसुत्त में कहते हैं कि तप, ब्रह्मचर्य, आर्यसत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार ये उत्तम मंगल हैं।[१] इसी प्रकार कासिभारद्वाजसुत्त में भी तथागत कहते हैं, मैं श्रद्धा का बीज बोता हूँ, उस पर तपश्चर्या की वृष्टि होती है—शरीर वाणी से संयम रखता हूँ और आहार से नियमित रहकर सत्य द्वारा मैं (मन-दोषों की) गोड़ाई करता हूँ।[२] दिट्ठिवज्जसुत्त में शास्ता कहते हैं, "किसी तप या व्रत के करने से किसी के कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं, तो उसे अवश्य करना चाहिए।"[3]

बुद्ध स्वयं अपने को तपस्वी कहते हैं—'ब्राह्मण, यही कारण है कि जिससे मैं तपस्वी हूँ।'

बुद्ध का जीवन तो कठिनतम तपस्याओं से भरा हुआ है। उनके अपने साधना-काल एवं पूर्वजन्मों का इतिहास एवं वर्णन जो हमें बौद्धागमों में उपलब्ध होता है, उनके तपोमय जीवन का साक्षी है। मज्झिमनिकाय महासीहनादसुत्त में बुद्ध सारिपुत्त से अपनी कठिन तपश्चर्या का विस्तृत वर्णन करते हैं।[४] इतना ही नहीं, सुत्तनिपात के पवज्जासुत्त में बुद्ध बिम्बिसार (राजा श्रेणिक) से कहते हैं कि अब मैं तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ, उस मार्ग में मेरा मन रमता है।[५]

यद्यपि उपर्युक्त तथ्य बुद्ध के जीवन की तप-साधना के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं फिर भी यह सुनिश्चित है कि बुद्ध ने तपश्चर्या के द्वारा देह-दण्डन की प्रक्रिया को निर्वाण-प्राप्ति में उपयोगी नहीं माना। उसका अर्थ इतना ही है कि बुद्ध अज्ञानमूलक देह-दण्डन को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते थे, ज्ञान-युक्त तप-साधना तो उन्हें भी मान्य थी। श्री भरतसिंह उपाध्याय के शब्दों में भगवान् बुद्ध की तपस्या में मात्र शारीरिक यन्त्रणा का भाव बिलकुल नहीं था, किन्तु वह सर्वथा सुख-साध्य भी नहीं थी।[६] डा० राधाकृष्णन् का कथन है, 'यद्यपि बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, फिर भी यह आश्चर्यजनक है कि बौद्ध-श्रमणों का अनुशासन किसी भी ब्राह्मण ग्रन्थ में वर्णित अनुशासन (तपश्चर्या) से कम कठोर नहीं है। यद्यपि बुद्ध सैद्धान्तिक दृष्टि से तपश्चर्या के अभाव में भी निर्वाण की उपलब्धि सम्भव मानते हैं, तथापि व्यवहार में तप उनके अनुसार आवश्यक प्रतीत होता है।'[७]

---

१. सुत्तनिपात, १६।१०
२. वही, ४।२
३. अंगुत्तरनिकाय, दिट्ठिवज्जसुत्त
४. मज्झिमनिकाय–महासीहनादसुत्त
५. सुत्तनिपात, २७।२०
६. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, पृ० ४
७. इण्डियन फिलासफी, भाग १, पृ० ४३६

बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त भी बौद्ध भिक्षुओं में धुतग (जंगल में रह कर विविध प्रकार की तपश्चर्या करनेवाले) भिक्षुओं का काफी महत्त्व था। विसुद्धिमग्ग एवं मिलिन्दप्रश्न मे ऐसे धुतंगों की प्रशंसा की गई है। दीपवंश मे कश्यप के विषय में लिखा है कि वे धुतवादियों के अगुआ थे। (धुतवादानं अग्गो सो कस्सपो जिन-सासने)। ये सब तथ्य बौद्ध-दर्शन एवं आचार मे तप का महत्त्व बताने के लिए पर्याप्त है।

तप के स्वरूप का विकास—जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं मे हमने तप के महत्त्व को देखा। लेकिन तप के स्वरूप को लेकर इन परम्पराओं मे सैद्धान्तिक अन्तर भी है। पौराणिक ग्रन्थों तथा जैन एवं बौद्ध आगमों मे तपस्या के स्वरूप का क्रमिक ऐतिहासिक विकास उपलब्ध होता है। पं० सुखलालजी तप के स्वरूप के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध मे लिखते है कि 'ऐसा ज्ञात होता है कि तप का स्वरूप स्थूल में से सूक्ष्म की ओर क्रमशः विकसित होता गया है—तपोमार्ग का विकास होता गया और उसके स्थूल-सूक्ष्म अनेक प्रकार साधकों ने अपनाये। तपोमार्ग अपने विकास में चार भागों मे बाँटा जा सकता है—एक अवधूत साधना, २. तापस साधना, ३. तपस्वी साधना और ४ योग साधना। जिनमें क्रमशः तप के सूक्ष्म प्रकारों का उपयोग होता गया, तप का स्वरूप बाह्य से आभ्यन्तर बनता गया। साधना देह-दमन से चित्तवृत्ति के निरोध की ओर बढ़ती गई।'[1] जैन-साधना तपस्वी एव योग-साधना का समन्वित रूप में प्रतिनिधित्व करती है जबकि बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शन योग-साधना का प्रतिनिधित्व करते है। फिर भी वे सभी अपने विकास के मूल केन्द्र से पूर्ण अलग नहीं है। जैन आगम आचारागसूत्र का धूत अध्ययन, बौद्ध ग्रन्थ विसुद्धिमग्ग का धूतंगनिद्देस और हिन्दू साधना की अवधूत गीता इन आचार-दर्शनों के किसी एक ही मूल केन्द्र की ओर इंगित करते है। जैन-साधना का तपस्वी-मार्ग तापस-मार्ग का ही अहिंसक संस्करण है।[2] बौद्ध और जैन विचारणा मे जो विचार-भेद है, उसके पीछे एक ऐतिहासिक कारण है। यदि मज्झिमनिकाय के बुद्ध के उस कथन को ऐतिहासिक मूल्य का समझा जाये तो यह प्रतीत होता है कि बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक साधक जीवन मे बड़े कठोर तप किये थे। प० सुखलालजी लिखते है कि उस निर्देश को देखते हुए ऐसा कहा जा सकता है कि अवधूत मार्ग (तप का अत्यन्त स्थूल रूप) मे जिस प्रकार के तपोमार्ग का आचरण किया जाता था बुद्ध ने वैसे ही उग्र तप किये थे। गोशालक और महावीर तपस्वी तो थे ही, परन्तु उनकी तपश्चर्या मे न तो अवधूतों की ओर न तापसों की तपश्चर्या का अंश था। उन्होंने बुद्ध जैसे तप-व्रतों का आचरण नही किया।—बुद्ध तप की उत्कट कोटि पर पहुँचे थे, परन्तु जब उसका परिणाम उनके लिए सन्तोषप्रद नहीं आया, तब

१. समदर्शी हरिभद्र, पृ० ६७ २. वही, पृ० ६७

वे ध्यानमार्ग की ओर अभिमुख हुए और तप को निरर्थक मानने और मनवाने लगे। शायद यह उनके उत्कट देह-दमन की प्रतिक्रिया हो।[1]

गीता मे भी तप के योगात्मक स्वरूप पर ही अधिक बल दिया गया है। गीता में तप की महिमा तो बहुत गायी गई है,[2] लेकिन गीताकार का झुकाव देह-दण्डन पर नही है, वरन् उसने तो ऐसे तप को निम्नस्तर का माना है।[3] गीताकार ने 'तपस्विभ्योऽधिकोयोगी'[4] कहकर इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। बौद्ध-परम्परा और गीता तप के योग पक्ष पर ही अधिक बल देती है, जब कि जैन-दर्शन में उसके पूर्व रूप भी स्वीकृत रहे है। जैन-दर्शन का विरोध तप के उस रूप से रहा है जो अहिंसक दृष्टिकोण के विपरीत जाता है। बुद्ध ने यद्यपि योगमार्ग पर अधिक बल दिया और ध्यान की पद्धति को विकसित किया है, तथापि तपस्या-मार्ग का उन्होंने स्पष्ट विरोध भी नही किया। उनके भिक्षुक धुतग व्रत के रूप मे इस तपस्या-मार्ग का आचरण करते थे।

जैन-साधना में तप का प्रयोजन—तप यदि नैतिक जीवन की एक अनिवार्य प्रक्रिया है तो उसे किसी लक्ष्य के निमित्त होना चाहिए। अत यह निश्चय कर लेना भी आवश्यक है कि तप का उद्देश्य और प्रयोजन क्या है ?

जैन-साधना का लक्ष्य शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है, आत्मा का शुद्धिकरण है। लेकिन यह शुद्धिकरण क्या है ? जैन दर्शन यह मानता है कि प्राणी कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं के माध्यम से कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों (Karmic Matter) को अपनी ओर आकर्षित करता है और ये आकर्षित कर्म-वर्गणाओं के पुद्गल राग-द्वेष या कषाय-वृत्ति के कारण आत्मतत्त्व से एकीभूत हो, उसकी शुद्ध सत्ता, शक्ति एव ज्ञान ज्योति को आवरित कर देते है। यह जड तत्त्व एवं चेतन तत्त्व का संयोग ही विकृति है।

अतः शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि के लिये आत्मा की स्वशक्ति को आवरित करने वाले कर्म पुद्गलों का विलगाव आवश्यक है। पृथक् करने की इस क्रिया को निर्जरा कहते है जो दो रूपों मे सम्पन्न होती है। जब कर्म पुद्गल अपनी निश्चित अवधि के पश्चात् अपना फल देकर स्वतः अलग हो जाते है, वह सविपाक निर्जरा है, लेकिन यह नैतिक साधना का मार्ग नही है। नैतिक साधना तो सप्रयास है। प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग करने की क्रिया को अविपाक निर्जरा कहते है और तप ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा अविपाक निर्जरा होती है।

इस प्रकार तप का प्रयोजन है प्रयासपूर्वक कर्म-पुद्गलों को आत्मा से अलग कर आत्मा की स्वशक्ति को प्रकट करना है और यही शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि है। यही

---

१. समदर्शी हरिभद्र, पृ० ६७-६८
२. गीता, १८।५
३. वही, १७।६,१९
४. वही, ६।४६

आत्मा का विशुद्धिकरण है, यही तप-साधना का लक्ष्य है। उत्तराध्ययनसूत्र मे भगवान महावीर तप के विषय में कहते है कि तप आत्मा के परिशोधन की प्रक्रिया है।[१] आबद्ध कर्मों के क्षय करने की पद्धति है।[२] तप के द्वारा ही महर्षिगण पूर्व पापकर्मो को नष्ट करते है।[3] तप का मार्ग राग-द्वेष-जन्य पाप-कर्मो के बंधन को क्षीण करने का मार्ग है, जिसे मेरे द्वारा सुनो।[४]

इस तरह जैन-साधना में तप का उद्देश्य या प्रयोजन आत्म-परिशोधन, पूर्वबद्ध कर्म-पुद्गलों का आत्म-तत्त्व से पृथक् करण और शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि ही सिद्ध होता है।

वैदिक साधना में तप का प्रयोजन—वैदिक साधना, मुख्यत औपनिषदिक साधना का लक्ष्य आत्मन् या ब्रह्मन् की उपलब्धि रहा है। औपनिषदिक विचारधारा स्पष्ट उद्घोषणा करती है तप से ब्रह्म खोजा जाता है,[५] तपस्या से ही ब्रह्म को जानो।[६] इतना ही नही औपनिषदिक विचारधारा मे भी जैन-विचार के समान तप को शुद्ध आत्म-तत्त्व की उपलब्धि का साधन माना गया है। मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक मे कहा है, यह आत्मा (जो ज्योतिर्मय और शुद्ध है) तपस्या और सत्य के द्वारा ही पाया जाता है।[७]

औपनिषदिक परम्परा एक अन्य अर्थ मे भी जैन-परम्परा से साम्य रखते हुए कहती है कि तप के द्वारा कर्म-रज दूर कर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक का ११ वाँ श्लोक इस सन्दर्भ मे विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कहा है—"जो शान्त विद्वान्‌जन वन मे रह कर भिक्षाचर्या करते हुए तप और श्रद्धा का सेवन करते है, वे विरज हो (कर्म-रज को दूर कर) सूर्य द्वार (ऊर्ध्व मार्गो) से वहा पहुँच जाते है जहाँ वह पुरुष (आत्मा) अमृत एव अव्यय आत्मा के रूप में निवास करता है।"[८]

वैदिक परम्परा मे जहाँ तप आध्यात्मिक शुद्धि अथवा आत्म-शुद्धि का साधन है वही उसके द्वारा होने वाली शरीर और इन्द्रियो की शुद्धि के महत्त्व का भी अंकन किया गया है। उसका आध्यात्मिक जीवन के साथ ही साथ भौतिक जीवन से भी सम्बन्ध जोड़ा गया है और जीवन के सामान्य व्यवहार के क्षेत्र मे तप का क्या प्रयोजन है, यह स्पष्ट दर्शाया गया है। महर्षि पतञ्जलि कहते है, तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि (सिद्धि) होती है।[९]

बौद्ध-साधना में तप का प्रयोजन—बौद्ध-साधना मे तप का प्रयोजन पापकारक

१. उत्तराध्ययन, २८।३५
२. वही २९।२७
३. वही, २८।३६, ३०।६
४. वही, ३०।१
५. मुण्डकोपनिषद्, १।१।८
६. तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।२।३।४
७. मुण्डकोपनिषद्, १।३।५
८. वही, २।११
९. योगसूत्र, साधनपाद, ४३

अकुशल धर्मों को तपा डालना है । इस सन्दर्भ में बुद्ध और निर्ग्रन्थ उपासक सिंह सेनापति का सम्वाद पर्याप्त प्रकाश डालता है । बुद्ध कहते है "हे सिंह, एक पर्याय ऐसा है जिससे सत्यवादी मनुष्य मुझे तपस्वी कह सके ।" वह पर्याय कौनसा है ? हे सिंह, मैं कहता हूँ कि पापकारक अकुशल धर्मों को तपा डाला जाय । जिसके पापकारक अकुशल धर्म गल गये, नष्ट हो गये, फिर उत्पन्न नही होते, उसे मैं तपस्वी कहता हूँ ।"[४] इस प्रकार बौद्ध साधना में भी जैन-साधना के समान आत्मा की अकुशल चित्तवृत्तियों या पाप वासनाओं के क्षीण करने के लिए तप स्वीकृत रहा है ।

जैन-साधना में तप का वर्गीकरण

जैन आचार-प्रणाली में तप के बाह्य (शारीरिक) और आभ्यन्तर (मानसिक) ऐसे दो भेद है ।[१] इन दोनों के भी छह-छह भेद हैं ।

(१) **बाह्य तप**—१. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षाचर्या, ४. रस-परित्याग ५. कायक्लेश और ६. संलीनता ।

(२) **आभ्यन्तर तप**—१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय, ५. ध्यान और ६. व्युत्सर्ग ।

शारीरिक या बाह्य तप के भेद[२]

१. **अनशन**—आहार के त्याग को अनशन कहते है । यह दो प्रकार का है—एक निश्चित समयावधि के लिए किया हुआ आहार-त्याग, जो एक दिन से लगा कर छह मास तक का होता है । दूसरा जीवन-पर्यन्त के लिए किया हुआ आहार-त्याग । जीवन-पर्यन्त के लिए आहार-त्याग की अनिवार्य शर्त यह है कि उस अवधि मे मृत्यु की आकांक्षा नही होनी चाहिए । आचार्य पूज्यपाद के अनुसार आहार-त्याग का उद्देश्य आत्म-संयम, आसक्ति मे कमी करना, ध्यान, ज्ञानार्जन और कर्मो की निर्जरा है, न कि सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति ।[3] अनशन मे मात्र देह-दण्ड नही है, वरन् आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि का उद्देश्य निहित है । स्थानाग सूत्र मे आहार ग्रहण करने के और आहार त्याग के छह छह कारण बताये गये है। उसमें भूख की पीडा की निवृत्ति, सेवा, ईर्यापथ, संयमनिर्वाहार्थ, धर्मचिन्तार्थ और प्राणरक्षार्थ ही आहार 'ग्रहण' करने की अनुमति है ।

(२) **ऊनोदरी (अवमौदर्य)**—इस तप मे आहार विषयक कुछ स्थितियाँ या शर्तें निश्चित की जाती है । इसके चार प्रकार है—१. आहार की मात्रा से कुछ कम खाना, यह द्रव्य-ऊनोदरी तप है । २. भिक्षा के लिए, आहार के लिए कोई स्थान निश्चित कर वहीं से मिली भिक्षा लेना, यह क्षेत्रऊनोदरी तप है । ३. किसी निश्चित समय पर

४. बुद्धलीलासारसंग्रह, पृ० २८०-२८१
१. उत्तराध्ययन ३०।७
२. वही, ३०।८-२८
३. सर्वार्थसिद्धि, ९।१९

आहार लेना यह काल-ऊनोदरी तप है। ४. भिक्षा-प्राप्ति के लिए या आहार के लिए किसी शर्त (अभिग्रह) का निश्चय कर लेना, यह भाव-ऊनोदरीतप है। संक्षेप मे ऊनोदरी तप वह है जिसमें किसी विशेष समय एवं स्थान पर, विशेष प्रकार से उपलब्ध आहार को अपनी आहार की मात्रा से कम मात्रा मे ग्रहण किया जाता है। मूलाचार के अनुसार ऊनोदरी तप की आवश्यकता निद्रा एवं इन्द्रियों के संयम के लिए तथा तप एवं षट् आवश्यकों के पालन के लिए है।[1]

३. **रस-परित्याग**—भोजन मे दूध, दही, घृत, तैल, मिष्ठान्न आदि सबका या उनमे से किसी एक का ग्रहण न करना रस-परित्याग तप है। रस-परित्याग स्वाद-जय है। नैतिक जीवन की साधना के लिए स्वाद-जय आवश्यक है। महात्मा गांधी ने ग्यारह व्रतों का विधान किया, उसमे अस्वाद भी एक व्रत है। रस-परित्याग का तात्पर्य यह है कि साधक स्वाद के लिए नही, वरन् शरीर-निर्वाह अथवा साधना के लिए आहार करता है।

४. **भिक्षाचर्या**—भिक्षा-विषयक विभिन्न विधि-नियमों का पालन करते हुए भिक्षान्न पर जीवन यापन करना भिक्षाचर्या तप है। इसे वृत्तिपरिसंख्यान भी कहा गया है। इसका बहुत कुछ सम्बन्ध भिक्षुक जीवन से है। भिक्षा के सम्बन्ध मे पूर्व निश्चय कर लेना और तदनुकूल ही भिक्षा ग्रहण करना वृत्तिपरिसंख्यान है। इसे अभिग्रह तप भी कहा गया है।

५ **कायक्लेश**—वीरासन, गोदुहासन आदि विभिन्न आसन करना, शीत या उष्णता सहन करने का अभ्यास करना कायक्लेश तप है। कायक्लेश तप चार प्रकार का है—१. आसन, २. आतापना—सूर्य की रश्मियो का ताप लेना, शीत को सहन करना एवं अल्पवस्त्र अथवा निर्वस्त्र रहना। ३. विभूषा का त्याग, ४. परिकर्म—शरीर की साज सज्जा का त्याग।

६. **संलीनता**—सलीनता चार प्रकार की है—१. इन्द्रिय संलीनता—इन्द्रियों के विषयों से बचना, २. कषाय-सलीनता- क्रोध, मान, माया और लोभ से बचना, ३. योग सलीनता—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियो से बचना, ४. विविक्त शयनासन—एकात स्थान पर सोना-बैठना। सामान्य रूप मे यह माना गया है कि कषाय एवं राग-द्वेष के बाह्य निमित्तों से बचने के लिये साधक को श्मशान, शून्यागार और वन के एकान्त स्थानों मे रहना चाहिए।

आभ्यन्तर तप के भेद[2]

आभ्यन्तर तप को सामान्य जनता तप के रूप मे नहीं जानती है, फिर भी उसमे

१. मूलाचार, ५।१५३ २. उत्तराध्ययन, ३०।२९-३६

तप का एक महत्त्वपूर्ण और उच्च पक्ष निहित है। बाह्य तप स्थूल हैं, जबकि अन्तरंग तप सूक्ष्म हैं। आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं।

१. **प्रायश्चित**—अपने अशुभ आचरण के प्रति ग्लानि प्रकट करना, उसका पश्चात्ताप करना, आलोचना करना, उसे वरिष्ठ गुरुजन के समक्ष प्रकट कर उसके लिए योग्य दण्ड की याचना कर, उनके द्वारा दिये गये दण्ड को स्वीकार करना, प्रायश्चित्त तप है। प्रायश्चित के अभाव में सदाचरण सम्भव नहीं है, क्योंकि गलती या दोष होना सामान्य मानव-प्रकृति है। लेकिन यदि उसका निराकरण नहीं किया जाता तो उस गल्ती का सुधार सम्भव नहीं। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है[1]—

१. आलोचना—गल्ती या असदाचरण के लिए पश्चात्ताप करना।

२. प्रतिक्रमण—चारित्रिक पतन से पुनः लौट जाना। अपनी गल्ती को सुधार लेना।

३. तदुभयः—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों को स्वीकार करना।

४. विवेक—गल्ती या असदाचरण को असदाचरण के रूप में जान लेना।

५. कायोत्सर्ग—प्रायश्चित्त स्वरूप कायोत्सर्ग करना अथवा असदाचरण का परित्याग करना।

६. तपस्या—अपराध या गल्ती के होने पर आत्मशुद्धि के निमित्त उपवास आदि तप स्वीकार करना।

७. छेद—मुनि-जीवन मे दीक्षापर्याय का कम कर देना छेद है अर्थात् अपराधी भिक्षु की श्रमण जीवन की वरीयता को कम करना।

८. मूल—पूर्व के श्रमण जीवन या दीक्षा पर्याय को समाप्त कर पुनः दीक्षा देना अथवा पुनः नये सिरे से श्रमण जीवन का प्रारम्भ करना।

९. परिहार—अपराधी श्रमण को श्रमण संस्था से बहिष्कृत करना।

१०. श्रद्धान—मिथ्या दृष्टिकोण के उत्पन्न हो जाने पर उसका परित्याग कर सम्यक् दर्शन को पुनः प्राप्त करना।

२. **विनय**—प्रायश्चित बिना विनय के सम्भव नहीं है। विनयशील ही आत्मशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। विनय का वास्तविक अर्थ वरिष्ठ एवं गुरुजनों का सम्मान करते हुए तथा उनकी आज्ञाओं का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना है। विनय के सात भेद हैं—१. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र-विनय, ४. मनोविनय, ५. वचन-विनय, ६. काय-विनय और ७. लोकोपचार विनय। शिष्टाचार के रूप में किये गये बाह्य उपचार को लोकोपचार विनय कहा जाता है।

३. **वैयावृत्य**—वैयावृत्य का अर्थ सेवा-शुश्रूषा करना है। भिक्षु-संघ मे दस प्रकार के साधकों की सेवा करना भिक्षु का कर्तव्य है—१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. तपस्वी,

---

१. तत्त्वार्थसूत्र, ९।२२

४. गुरु, ५. रोगी, ६. वृद्ध मुनि, ७. सहपाठी, ८. अपने भिक्षु-संघ का सदस्य, ९ दीक्षा स्थविर और १०. लोक सम्मानित भिक्षु। इन दस की सेवा करना वैयावृत्य तप है। इसके अतिरिक्त संघ (समाज) की सेवा भी भिक्षु का कर्तव्य है।

४. **स्वाध्याय**—स्वाध्याय शब्द का सामान्य अर्थ आध्यात्मिक साहित्य का पठन-पाठन एवं मनन आदि है। स्वाध्याय के पाँच भेद है—

१ वाचना : सद्ग्रन्थो का पठन एव अध्ययन करना।

२. पृच्छना : उत्पन्न शंकाओ के निरसन के लिए एवं नवीन ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त विद्वज्जनो से प्रश्नोत्तर एवं वार्तालाप करना।

३. अनुप्रेक्षा : ज्ञान की स्मृति को बनाये रखने के लिए उसका चिन्तन करना एवं उस चिन्तन के द्वारा अर्जित ज्ञान को विशाल करना अनुप्रेक्षा है।

४ आम्नाय (परावर्तन) : आम्नाय या परावर्तन का अर्थ दोहराना है। अर्जित ज्ञान के स्थायित्व के लिए यह आवश्यक है।

५ धर्मकथा : धार्मिक उपदेश करना धर्मकथा है।

५. **व्युत्सर्ग**—व्युत्सर्ग का अर्थ त्यागना या छोडना है। व्युत्सर्ग के आभ्यन्तर और बाह्य दो भेद हैं। बाह्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

१. कायोत्सर्ग : कुछ समय के लिए शरीर से ममत्व को हटा लेना।

२. गण-व्युत्सर्ग : साधना के निमित्त सामूहिक जीवन को छोडकर एकात मे अकेले साधना करना।

३. उपधि-व्युत्सर्ग : वस्त्र, पात्र आदि मुनि जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ का त्याग करना या उनमें कमी करना।

४ भक्तपान व्युत्सर्ग : भोजन का परित्याग। यह अनशन का ही रूप है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तीन प्रकार का है—

१ कषाय-व्युत्सर्ग : क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करना।

२ ससार-व्युत्सर्ग : प्राणीमात्र के प्रति राग-द्वेष की प्रवृत्तियो को छोडकर सबके प्रति समत्वभाव रखना है।

३. कर्म-व्युत्सर्ग : आत्मा की मलिनता मन, वचन और शरीर की विविध प्रवृत्तियो को जन्म देती है। इस मलिनता के परित्याग के द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक प्रवृत्तियों का निरोध करना।

६. **ध्यान**—चित्त की अवस्थाओ का किसी विषय पर केन्द्रित होना ध्यान है। जैन-परम्परा मे ध्यान के चार प्रकार है—१. आर्त-ध्यान, २. रौद्र ध्यान, ३. धर्मध्यान और ४. शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान चित्त की दूषित प्रवृत्तियाँ है अतः

साधना एवं तप की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है, ये दोनों ध्यान त्याज्य हैं। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से धर्मध्यान और शुक्लध्यान ये दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। अतः इन पर थोड़ी विस्तृत चर्चा करना आवश्यक है।

धर्म-ध्यान—इसका अर्थ है चित्त-विशुद्धि का प्रारम्भिक अभ्यास। धर्म-ध्यान के लिए ये चार बातें आवश्यक हैं—१. आगम-ज्ञान, २. अनासक्ति, ३. आत्मसंयम और मुमुक्षुभाव। धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं :—

१. आज्ञा-विचय : आगम के अनुसार तत्त्व स्वरूप एवं कर्तव्यों का चिन्तन करना।

२. अपाय-विचय : हेय क्या है, इसका विचार करना।

३. विपाक-विचय : हेयके परिणामोंका विचार करना।

४. संस्थान-विचय : लोक या पदार्थों की आकृतियों, स्वरूपों का चिन्तन करना। संस्थान-विचय धर्म-ध्यान पुनः चार उपविभागों में विभाजित है—(अ) पिण्डस्थ ध्यान-यह किसी तत्त्व विशेष के स्वरूप के चिन्तन पर आधारित है। इसकी पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, और तत्त्वभू ये पाँच धारणाएँ मानी गयी है। (ब) पदस्थ ध्यान—यह ध्यान पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन करके किया जाता है। (स) रूपस्थ-ध्यान-राग, द्वेष, मोह आदि विकारों से रहित अर्हन्त का ध्यान करना हैं। (द) रूपातीत-ध्यान निराकार, चैतन्य-स्वरूप सिद्ध परमात्मा का ध्यान करना।

शुक्ल-ध्यान—यह धर्म-ध्यान के बाद की स्थिति है। शुक्लध्यान के द्वारा मन को शान्त और निष्प्रकम्प किया जाता है। इसकी अन्तिम परिणति मन की समस्त प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध है। शुक्ल-ध्यान चार प्रकार का है—(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—इस ध्यान में ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है। इस ध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही रहता है। (२) एकत्व-वितर्क अविचारी—अर्थ, व्यंजन और योग संक्रमण से रहित, एक पर्याय-विषयक ध्यान 'एकत्व-श्रुत अविचार' ध्यान कहलाता है। (३) सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती—मन, वचन और शरीर व्यापार का निरोध हो जाने एवं केवल श्वासोच्छ्वास की सूक्ष्म क्रिया के शेष रहने पर ध्यान की यह अवस्था प्राप्त होती है। (४) समुच्छिन्न-क्रिया-निवृत्ति—जब मन, वचन और शरीर की समस्त प्रवृत्तियों का निरोध हो जाता है और कोई भी सूक्ष्म क्रिया शेष नहीं रहती उस अवस्था को समुच्छिन्न-क्रिया शुक्लध्यान कहते हैं। इस प्रकार शुक्लध्यान की प्रथम अवस्था से क्रमशः आगे बढ़ते हुए अन्तिम अवस्था में साधक कायिक, वाचिक और मानसिक सभी प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध कर अन्त में सिद्धावस्था प्राप्त कर लेता है जो कि नैतिक साधना और योगसाधना का अन्तिम लक्ष्य है।[1]

१. विशेष विवेचन के लिए देखिए—योगशास्त्र प्रकाश ७, ८, ९, १०, ११

गीता में तप का वर्गीकरण—वैदिक साधना में तप का सर्वांग वर्गीकरण गीता में प्रतिपादित है। गीता में तप का दोहरा वर्गीकरण है। एक तप के स्वरूप का वर्गीकरण है तो दूसरा तप की उपादेयता एवं शुद्धता का।

प्रथम स्वरूप की दृष्टि से गीताकार तप के तीन प्रकार बताते हैं[1]—(१) शारीरिक, (२) वाचिक और (३) मानसिक।

१. शारीरिक तप—गीताकार की दृष्टि में शारीरिक तप हैं—१. देव, द्विज, गुरु-जनों और ज्ञानीजनों का पूजन (सत्कार एवं सेवा), २. पवित्रता (शरीर की पवित्रता एवं आचरण की पवित्रता), ३. सरलता (अकपट), ४. ब्रह्मचर्य और ५. अहिंसा का पालन।

२. वाचिक—वाचिक तप के अन्तर्गत क्रोध जाग्रत नहीं करने वाला शान्तिप्रद, प्रिय एवं हितकारक यथार्थ भाषण, स्वाध्याय एवं अध्ययन ये तीन प्रकार आते हैं।

३. मानसिक तप—मन की प्रसन्नता, शान्त भाव, मौन, मनोनिग्रह और भाव-संशुद्धि।

तप की शुद्धता एवं नैतिक जीवन में उसकी उपादेयता की दृष्टि से तप के तीन स्तर या विभाग गीता में वर्णित हैं—१. सात्विक तप, २. राजस तप और ३. तामस तप[2]।

गीताकार कहता है कि उपर्युक्त तीनों प्रकार का तप श्रद्धापूर्वक, फल की आकांक्षा से रहित एवं निष्काम भाव से किया जाता है तब वह सात्विक तप कहा जाता है। लेकिन जो तप सत्कार, मान-प्रतिष्ठा अथवा दिखावे के लिए किया जाता है तो वह राजस तप कहा जाता है।[3]

इसी प्रकार जिस तप में मूढ़तापूर्वक अपने को भी कष्ट दिया जाता है और दूसरे को भी कष्ट दिया जाता और दूसरे का अनिष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है, वह तामस तप कहा जाता है।

वर्गीकरण की दृष्टि से गीता और जैन विचारणा में प्रमुख अन्तर यह है कि गीता अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य एवं इन्द्रियनिग्रह, आर्जव आदि को भी तप की कोटि में रखती है, जब कि जैन विचारणा उन पर पाँच महाव्रतों एवं दस यतिधर्मों के सन्दर्भ में विचार करती है। इसी प्रकार गीता में जैन-विचारणा के बाह्य तपों पर विशेष विचार नहीं किया गया है। जैन-विचारणा के आभ्यन्तर तपों पर गीता में तप के रूप में नहीं, वरन् अलग से विचार किया गया है। केवल स्वाध्याय पर तप के रूप में विचार किया गया है। ध्यान और कायोत्सर्ग का योग के रूप में, वैयावृत्य का लोक-संग्रह के रूप

---

१. गीता, १७।१४-१६ २. वही, १७।१७-१९

३. तुलना कीजिये—सूत्रकृतांग, १।८।२४

में एवं विनय पर गुण के रूप में विचार किया गया है। प्रायश्चित्त गीता में शरणागति बन जाता है।

वैसे यदि समग्र वैदिक साधना की दृष्टि से जैन वर्गीकरण पर विचार किया जाये तो तप के लगभग वे सभी प्रकार वैदिक साधना में मान्य हैं।

धर्मसूत्रों विशेषकर वैखानस सूत्र तथा अन्य स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर इसे सिद्ध किया जा सकता है। महानारायणोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा है कि 'अनशन से बढ़ कर कोई तप नहीं है'[1]। यद्यपि गीता में अनशन (उपवास) की अपेक्षा ऊनोदरी तप को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। गीता यहाँ पर मध्यममार्ग अपनाती है। गीताकार कहता है, योग न अधिक खाने वाले लोगों के लिए सम्भव है, न बिलकुल ही न खानेवाले के लिए सम्भव है। युक्ताहारविहार वाला ही योग की साधना सरलतापूर्वक कर सकता है।[2]

महर्षि पतंजलि ने तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान इन तीनों को क्रिया-योग कहा है।

बौद्ध साधना में तप का वर्गीकरण—बौद्ध-साहित्य में तप का कोई समुचित वर्गीकरण देखने में नहीं आया। 'मज्झिमनिकाय' के कन्दरकसुत्त में एक वर्गीकरण है जिसमें गीता के समान तप की श्रेष्ठता एवं निकृष्टता पर विचार किया गया है। वहाँ बुद्ध कहते हैं कि 'चार प्रकार के मनुष्य होते हैं (१) एक वे जो आत्मन्तप हैं परन्तु परन्तप नहीं हैं। इस वर्ग के अन्दर कठोर तपश्चर्या करनेवाले तपस्वीगण आते हैं जो स्वयं को कष्ट देते हैं, लेकिन दूसरे को नहीं। (२) दूसरे वे जो परन्तप हैं आत्मन्तप नहीं। इस वर्ग में बधिक तथा पशु बलि देनेवाले आते हैं जो दूसरों को ही कष्ट देते हैं। (३) तीसरे वे जो आत्मन्तप भी है और परन्तप भी अर्थात् वे लोग जो स्वयं भी कष्ट उठाते है और दूसरों को भी कष्ट देते हैं, जैसे—तपश्चर्या सहित यज्ञयाग करनेवाले। (४) चौथे वे जो आत्मन्तप भी नहीं है और परन्तप भी नहीं है अर्थात् वे लोग जो न तो स्वयं को कष्ट देते हैं और न औरों को ही कष्ट देते हैं।[3] बुद्ध भी गीता के समान यह कहते हैं कि जिस तप में स्वयं को भी कष्ट दिया जाता है और दूसरे को भी कष्ट दिया जाता है, वह निकृष्ट है। गीता ऐसे तप को तामस कहती है।

बुद्ध अपने श्रावकों को चौथे प्रकार के तप के सम्बन्ध में उपदेश देते है और मध्यम-मार्ग के सिद्धान्त के आधार पर ऐसे ही तप को श्रेष्ठ बताते हैं, जिनमे न तो स्वपीड़न है, न पर-पीड़न।

---

१. महानारायणोपनिषद्, २१।२

२. गीता, ६।१६-१७—तुलना कीजिए—सूत्रकृतांग १।८।२५

३. मज्झिमनिकाय कन्दरकसुत्त, पृ० २०७-२१०

जैन-विचारणा उपर्युक्त वर्गीकरण मे पहले और चौथे को स्वीकार करती है और कहती है कि यदि स्वयं के कष्ट उठाने से दूसरों का हित होता है और हमारी मानसिक शुद्धि होती है तो पहला ही वर्ग सर्वश्रेष्ठ है और चौथा वर्ग मध्यममार्ग है हां, यह अवश्य है कि वह दूसरे और तीसरे वर्ग के लोगों को किसी रूप मे नैतिक या तपस्वी स्वीकार नही करता।

यदि हम जैन परम्परा और गीता मे वर्णित तप के विभिन्न प्रभेदों पर विचार करके देखें तो हमे उनमे से अधिकांश बौद्ध-परम्परा मे मान्य प्रतीत होते है—

(१) बौद्ध भिक्षुओं के लिए अति भोजन वर्जित है। साथ ही एक समय भोजन करने का आदेश है जो जैन-विचारणा के ऊनोदरी तप से मिलता है। गीता मे भी योग साधना के लिए अति भोजन वर्जित है। (२) बौद्ध भिक्षुओं के लिए रसासक्ति का निषेध है। (३) बौद्ध साधना मे भी विभिन्न सुखासनों की साधना का विधान मिलता है। यद्यपि आसनों की साधना एवं शीत एवं ताप सहन करने की धारणा बौद्ध-विचारणा मे उतनी कठोर नही है जितनी जैन-विचारणा मे। (४) भिक्षाचर्या जैन और बौद्ध दोनों आचार-प्रणालियों मे स्वीकृत है, यद्यपि भिक्षा नियमों की कठोरता जैन साधना मे अधिक है। (५) विविक्त शयनासन तप भी बौद्ध विचारणा में स्वीकृत है। बौद्ध आगमों मे अरण्यनिवास, वृक्षमूल-निवास, श्मशान निवास करनेवाले (जैन परिभाषा के अनुसार विविक्त शयनासन तप करनेवाले) धुतग भिक्षुओं की प्रशसा की गयी है। आभ्यन्तरिक तप के छह भेद भी बौद्ध परम्परा मे स्वीकृत रहे है। (६) प्रायश्चित्त बौद्ध-परम्परा और वैदिक परम्परा मे स्वीकृत रहा है। बौद्ध आगमों मे प्रायश्चित्त के लिए प्रवारणा आवश्यक मानी गयी है। (७) विनय के सम्बन्ध मे दोनों ही विचार परम्पराएँ एकमत हैं। (८) बौद्ध परम्परा मे भी बुद्ध, धर्म, संघ, रोगी, वृद्ध एवं शिक्षार्थी भिक्षुक की सेवा का विधान है। (९) इसी प्रकार स्वाध्याय एवं उसमें विभिन्न अंगों का विवेचन भी बौद्ध परम्परा मे उपलब्ध है। बुद्ध ने भी वाचना, पृच्छना, परावर्तना एवं चिन्तन को समान महत्त्व दिया है। (१०) व्युत्सर्ग के सम्बन्ध मे यद्यपि बुद्ध का दृष्टिकोण मध्यममार्गी है, तथापि वे इसे अस्वीकार नही करते है। व्युत्सर्ग के आन्तरिक प्रकार तो बौद्ध परम्परा मे भी उसी प्रकार स्वीकृत रहे है जिस प्रकार वे जैन दर्शन मे है। (११) ध्यान के सम्बन्ध में बौद्ध दृष्टिकोण भी जैन परम्परा के निकट ही आता है। बौद्ध परम्परा में चार प्रकार के ध्यान माने गये हैं—

१. सवितर्क-सविचार-विवेकजन्य प्रीतिसुखात्मक प्रथम ध्यान।

२. वितर्क विचार-रहित-समाधिज प्रीतिसुखात्मक द्वितीय ध्यान।

३. प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त उपेक्षा स्मृति सुखविहारी तृतीय ध्यान।

४. **सुख-दुःख एवं सौमनस्य-दौर्मनस्य से रहित असुख-अदुःखात्मक उपेक्षा एवं परिशुद्धि से युक्त चतुर्थ ध्यान।**

इस प्रकार चारों ध्यान जैन-परम्परा में भी थोड़े शाब्दिक अन्तर के साथ उपस्थित हैं। योग-परम्परा में भी समापत्ति के चार प्रकार बतलाये हैं, जो कि जैन-परम्परा के समान ही लगते हैं। समापत्ति के वे चार प्रकार निम्नानुसार हैं—१. सवितर्का, २. निर्वितर्का, ३. सविचारा, ४. निर्विचारा। इस विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन-साधना में जिस सम्यक् तप का विधान है, वह अन्य भारतीय आचारदर्शनों में भी सामान्यतया स्वीकृत रहा है।

जैन, बौद्ध और गीता की विचारणा में जिस सम्बन्ध में मत भिन्नता है वह है अनशन या उपवास तप। बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन उपवासों की लम्बी तपस्या को इतना महत्त्व नहीं देते जितना कि जैन विचारणा देती है। इसका मूल कारण यह है कि बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन तप की अपेक्षा योग को अधिक महत्त्व देते हैं। यद्यपि यह स्मरण रखने की बात है कि जैन दर्शन की तप-साधना योग-साधना से भिन्न नहीं है। पतंजलि ने जिस अष्टांग योगमार्ग का उपदेश दिया वह कुछ तथ्यों को छोड़ कर जैन-विचारणा में भी उपलब्ध है।

अष्टांग योग और जैन-दर्शन—योग-दर्शन में योग के आठ अंग माने गये हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान और ८. समाधि। इनका जैन-विचारणा से कितना साम्य है, इस पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा।

१. **यम**—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं। जैन-दर्शन में ये पांचों यम पंच महाव्रत कहे गये हैं। जैन-दर्शन और योग-दर्शन में इनकी व्याख्याएँ समान हैं।

२. **नियम**—नियम भी पांच हैं—१. शौच, २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. ईश्वरप्रणिधान। जैन दर्शन में ये पांचों नियम प्रसंगान्तर से मान्य हैं। जैन-दर्शन में नियम के स्थान पर योग-संग्रह का विवेचन उपलब्ध है। जैन आगम समवायांग में ३२ योग-संग्रह माने है। यथा १. अपने किये हुए पापों की गुरुजनों के पास आलोचना करना। २. किसी की आलोचना सुनकर किसी और के पास न कहना। ३. कष्ट आने पर धर्म में दृढ़ रहना। ४. किसी की सहायता की अपेक्षा न करते हुए तप करना ५. ग्रहण-शिक्षा और आसेवनशिक्षा का पालन करना। ६. शरीर की निष्प्रतिक्रमता। ७. पूजा आदि की आशा से रहित होकर अज्ञात तप करना। ८. लोभपरित्याग। ९. तितिक्षा—सहन करना। १०. ऋजुता (सरलता)। ११. शुचि (सत्य-संयम)। १२. सम्यग्दृष्टि होना। १३. समाधिस्थ होना। १४. आचार का पालन करना। १५. विनयशील होना।

१६ धृतिपूर्वक मतिमान् होना। १७ सवेगयुक्त होना। १८ प्रनिधि—माया (कपट) न करना। १९. सुविधि—सदनुष्ठान। २०. सवरयुक्त होना। २१ अपने दोषो का निरोध करना। २२ सब कामो (विषयो) से विरक्त रहना। २३ मूलगुणो का शुद्ध पालन करना। २४. उत्तरगुणो का शुद्ध पालन करना। २५ व्युत्सर्ग करना। २६ प्रमाद न करना। २७ क्षण–क्षण मे समाचारी–अनुष्ठान करना। २८. ध्यान–सवरयोग करना। २९ मारणान्तिक कष्ट आने पर भी अपने ध्येय से विचलित न होना। ३०. सग का परित्याग करना। ३१ प्रायश्चित्त ग्रहण करना। ३२ मरणकाल मे आराधक बनना।

३ **आसन**—स्थिर एव बैठने के सुखद प्रकार-विशेष को आसन कहा गया है। जैन परम्परा मे बाह्य तप के पाचवें काया-क्लेश में आसनो का भी समावेश है। औपपातिक सूत्र एव दशाश्रुतस्कधसूत्र मे वीरासन, भद्रासन, गोदुहासन और सुखासन आदि अनेक आसनो का विवेचन है।

४ **प्राणायाम**—प्राण, अपान, समान[1], उदान और व्यान ये पांच प्राणवायु है। इन प्राणवायुओ पर विजय प्राप्त करना ही प्राणायाम है। इसके रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन भेद है। यद्यपि जैन धर्म के मूल आगमो मे प्राणायाम सम्बन्धी विवेचन उपलब्ध नही है, तथापि आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव और आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र मे प्राणायाम का विस्तृत विवेचन है।

५ **प्रत्याहार**—इन्द्रियो की वहिर्मुखता को समाप्त कर उन्हे अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। जैन दर्शन मे प्रत्याहार के स्थान पर प्रतिसलीनता शब्द का प्रयोग हुआ है। वह चार प्रकार की है—१ इन्द्रिय-प्रतिसलीनता, २ कषाय-प्रतिसलीनता, ३. योग-प्रतिसलीनता और ४ विविक्त शयनासन सवनता। इस प्रकार योग दर्शन के प्रत्याहार का समावेश जैन-दर्शन की प्रतिसलीनता मे हो जाता है।

६ **धारणा**—चित्त की एकाग्रता के लिए उसे किसी स्थान-विशेष पर केन्द्रित करना धारणा है। धारणा का विषय प्रथम स्थूल होता है जो क्रमश सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होता जाता है। जैन आगमो मे धारणा का वर्णन स्वतत्र रूप मे नही मिलता, यद्यपि उसका उल्लेख ध्यान के एक अग के रूप मे अवश्य हुआ है। जैन-परम्परा मे ध्यान की अवस्था मे नासिकाग्र पर दृष्टि केन्द्रित करने का विधान है। दशाश्रुतस्कधसूत्र मे भिक्षुप्रतिमाओ का विवेचन करते हुए एक-पुद्गलनिविदृष्टि का उल्लेख है।

७ **ध्यान**—जैन-परम्परा में योग-साधना के रूप मे ध्यान का विशेष विवेचन उपलब्ध है।

८. **समाधि**—चित्तवृत्ति का स्थिर हो जाना अथवा उसका क्षय हो जाना समाधि है। जैन-परम्परा मे समाधि शब्द का प्रयोग तो काफी हुआ है, लेकिन समाधि को ध्यान

१, समवायाग ३२।

से पृथक नहीं माना गया है। जैन-परम्परा मे धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ध्यान में ही समाविष्ठ हैं। शुक्लध्यान की अवस्थाएँ समाधि के तुल्य हैं। समाधि के दो विभाग किये गए हैं—१. संप्रज्ञात-समाधि और २. असंप्रज्ञात-समाधि। संप्रज्ञात समाधि का अन्तर्भाव शुक्लध्यान के प्रथम दो प्रकार पृथक्त्ववितर्क सविचार और एकत्ववितर्क अविचार मे और असंप्रज्ञात-समाधि का अन्तर्भाव शुक्ल-ध्यान के अन्तिम दो प्रकार सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती और समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति में हो जाता है।[1]

इस प्रकार अष्टांग-योग मे प्राणायाम को छोड़कर शेष सभी का विवेचन जैन-आगमों में उपलब्ध है। यही नहीं, परवर्ती जैनाचार्यों ने प्राणायाम का विवेचन भी किया है। आचार्य हरिभद्र ने तो पचाग योग का विवेचन भी किया है, जिसमे योग के निम्न पाँच अंग बताये हैः—१. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता और ५. वृत्ति-संक्षय। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टिसमुच्चय, योग-बिन्दु और योगविंशिका; आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की रचना कर जैन परम्परा में योग-विद्या का विकास किया है।

तप का सामान्य स्वरूप एक मूल्यांकन—तप शब्द अनेक अर्थों मे भारतीय आचार दर्शन मे प्रयुक्त हुआ है और जब तक उसकी सीमाएँ निर्धारित नहीं कर लीजाती, उसका मूल्यांकन करना कठिन है। 'तप' शब्द एक अर्थ मे त्याग-भावना को व्यक्त करता है। त्याग चाहे वह वैयक्तिक स्वार्थ एवं हितों का हो, चाहे वैयक्तिक सुखोपलब्धियों का हो, तप कहा जा सकता है। सम्भवतः यह तप की विस्तृत परिभाषा होगी, लेकिन यह तप के निषेधात्मक पक्ष को ही प्रस्तुत करती है। यहाँ तप, संयम, इन्द्रिय-निग्रह और देह-दण्डन बन कर रह जाता है। तप मात्र त्यागना ही नहीं है, उपलब्ध करना भी है। तप का केवल विसर्जनात्मक मूल्य मानना भ्रम होगा। भारतीय आचार-दर्शनो ने जहाँ तप के विसर्जनात्मक मूल्यों की गुण-गाथा गायी है, वही उसके सृजनात्मक मूल्य को भी स्वीकार किया है। वैदिक परम्परा मे तप को लोक-कल्याण का विधान करने वाला कहा गया है। गीता की लोक-संग्रह की और जैन परम्परा की वैयावृत्य या संघ-सेवा की अवधारणाएँ तप के विधायक अर्थात् लोक-कल्याणकारी पक्ष को ही तो अभि-व्यक्त करती है। बौद्ध परम्परा जब "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" का उद्घोष देती है तब वह भी तप के विधायक मूल्य का ही विधान करती है।

सृजनात्मक पक्ष में तप आत्मोपलब्धि ही है, लेकिन यहाँ स्व—आत्मन् इतना व्यापक होता है कि उसमे स्व या पर का भेद ही नही टिक पाता है और इसीलिए एक तपस्वी का आत्म-कल्याण और लोक कल्याण परस्पर विरोधी नहीं होकर एक रूप होते हैं। एक तपस्वी के आत्मकल्याण मे लोक-कल्याण समाविष्ट रहता है और उसका लोक-कल्याण आत्म-कल्याण ही होता है।

---

१. विस्तृत एवं सप्रमाण तुलना के लिए देखिए—जैनागमों में अष्टांग-योग।

तप, चाहे वह इन्द्रिय-संयम हो, चित्त-निरोध हो अथवा लोक-कल्याण या बहुजन-हित हो, उसके महत्त्व से इनकार नहीं किया जा सकता। उसका वैयक्तिक जीवन के लिए एवं समाज के लिए महत्त्व है। डॉ० गफ आदि कुछ पाश्चात्त्य विचारकों ने तथा किसी सीमा तक स्वयं बुद्ध ने भी तपस्या को आत्म-निर्यातन (Self Torture) या स्वपीडन के रूप मे देखा और इसी आधार पर उसकी आलोचना भी की है। यदि तपस्या का अर्थ केवल आत्म-निर्यातन या स्वपीड़न ही है और यदि इस आधार पर उसकी आलोचना की गयी है तो समुचित कही जा सकती है। जैन विचारणा और गीता की धारणा भी इससे सहमत ही होगी।

लेकिन यदि हमारी सुखोपलब्धि के लिए परपीड़न अनिवार्य हो तो ऐसी सुखोपलब्धि समालोच्य भारतीय आचार-दर्शनों द्वारा त्याज्य ही होगी।

इसी प्रकार यदि स्वपीड़न या परपीड़न दोनों मे से किसी एक का चुनाव करना हो तो स्वपीड़न ही चुनना होगा। नैतिकता का यही तकाजा है। उपर्युक्त दोनों स्थितियों मे स्वपीड़न या आत्म-निर्यातन को क्षम्य मानना ही पड़ेगा। भगवान् बुद्ध स्वयं ऐसी स्थिति में स्वपीड़न या आत्म-निर्यातन को स्वीकार करते हैं। यदि चित्तवृत्ति या वासनाओं के निरोध के लिए आत्म-निर्यातन आवश्यक हो तो इसे स्वीकार करना होगा।

भारतीय आचार-परम्पराओं एवं विशेषकर जैन आचार-परम्परा में तप के साथ शारीरिक कष्ट सहने या आत्म-निर्यातन का जो अध्याय जुड़ा है उसके पीछे भी कुछ तर्कों का बल तो है ही। देह-दण्डन की प्रणाली के पीछे निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

१. सामान्य नियम है कि सुख की उपलब्धि के निमित्त कुछ न कुछ दुःख तो उठाना ही होता है, फिर आत्म-सुखोपलब्धि के लिए कोई कष्ट न उठाना पड़े, यह कैसे सम्भव हो सकता है?

२. तप स्वयं को स्वेच्छापूर्वक कष्टप्रद स्थिति में डालकर अपने वैचारिक समत्व का परीक्षण करना एवं अभ्यास करना है। 'सुख दुःखे समं कृत्वा' कहना सहज हो सकता है लेकिन ठोस अभ्यास के बिना यह आध्यात्मिक जीवन का अंग नहीं बन सकता और यदि वैयक्तिक जीवन में ऐसे सहज अवसर उपलब्ध नहीं होते हैं तो स्वयं को कष्टप्रद स्थिति में डालकर अपने वैचारिक समत्व का अभ्यास या परीक्षण करना होगा।

३. यह कहना सहज है कि 'मैं चैतन्य हूँ, देह जड़ है।' लेकिन शरीर और आत्मा के बीच, जड़ और चेतन के बीच, पुरुष और प्रकृति के बीच, सत् ब्रह्म और मिथ्या जगत् के बीच जिस अनुभवात्मक भेद-विज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की आवश्यकता है, उसकी सच्ची कसौटी तो यही आत्म-निर्यातन की प्रक्रिया है। देह-दण्डन या काय-क्लेश वह अग्नि

परीक्षा है जिसमें व्यक्ति अपने भेदज्ञान की निष्ठा का सच्चा परीक्षण कर सकता है ।

उपर्युक्त आधार पर हमने जिस देह-दण्डन या आत्म-निर्यातन रूप तपस्या का समर्थन किया है वह ज्ञान-समन्वित तप है । जिस तप में समत्व की साधना नहीं, भेद-विज्ञान का ज्ञान नहीं, ऐसा देह-दण्डनरूप तप जैन-साधना को बिल्कुल मान्य नहीं है । भगवान् पार्श्वनाथ और तापस कमठ के बीच तप का यही स्वरूप तो विवाद का विषय था और जिसमें पार्श्वनाथ ने अज्ञानजनित देह-दण्डन की प्रणाली की निन्दा की थी । स्वाध्याय तप का ज्ञानात्मक स्वरूप है । भारतीय ऋषियों ने स्वाध्याय को तप के रूप में स्वीकार कर तप के ज्ञान समन्वित स्वरूप पर ही जोर दिया है । गीताकार ज्ञान और तप को साथ-साथ देखता है ।[1] भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर ने अज्ञानयुक्त तप की निन्दा समान रूप से की है । भगवान् महावीर कहते हैं कि जो अज्ञानीजन मास-मास की तपस्या करते हैं उसकी समाप्ति पर केवल कुशाग्र जितना अन्न ग्रहण करते हैं वे ज्ञानी की सोलहवीं कला के बराबर भी धर्म का आचरण नहीं करते ।[2] यही बात इन्हीं शब्दों में बुद्ध ने भी कही है ।[3] दोनों कथनों में शब्द-साम्य विशेष द्रष्टव्य है । इस प्रकार जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शन अज्ञानयुक्त तप को हेय समझते हैं ।

देह-दण्डन को यदि कुछ ढीले अर्थ में लिया जाये तो उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी सिद्ध हो जाती है । जैसे व्यायाम के रूप में किया हुआ देह-दण्डन (शारीरिक कष्ट) स्वास्थ्य रक्षा एवं शक्ति-संचय का कारण होकर जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में भी लाभप्रद होता है, वैसे ही तपस्या के रूप में देह-दण्डन का अभ्यास करने वाला अपने शरीर में कष्ट-सहिष्णु शक्ति विकसित कर लेता है, जो वासनाओं के संघर्ष में ही नहीं, जीवन की सामान्य स्थितियों में भी सहायक होती है । एक उपवास का अभ्यासी व्यक्ति यदि किसी परिस्थिति में भोजन प्राप्त नहीं कर पाता, तो इतना व्याकुल नहीं होगा जितना अनभ्यस्त व्यक्ति । कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यास आध्यात्मिक प्रगति के लिए आवश्यक है । आध्यात्मिक दृष्टि के बिना शारीरिक यन्त्रणा अपने आप में कोई तप नहीं है, उसमें भी यदि इस शारीरिक यन्त्रणा के पीछे लौकिक या पारलौकिक स्वार्थ हैं तो फिर उसे तपस्या कहना महान् मूर्खता होगी । जैन-दार्शनिक भाषा में तपस्या में देह-दण्डन किया नहीं जाता, हो जाता है । तपस्या का प्रयोजन आत्म-

१. देखिये—गीता १६।१, १७, १५, ४।१०, ४।२८
२. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ॥—उत्तराध्ययन, ९।४४
३. मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं ।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं ॥—धम्मपद, ७०

परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। घृत को शुद्धि के लिए घृत को तपाना होता है न कि पात्र को। उसी प्रकार आत्म-शुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का भाजन (पात्र) होने से तप जाता है, तपाया नहीं जाता। जिस तप में मानसिक कष्ट हो, वेदना हो, पीड़ा हो, वह तप नहीं है। पीड़ा का होना एक बात है और पीड़ा को व्याकुलता की अनुभूति करना दूसरी बात है। तप में पीड़ा हो सकती है लेकिन पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं। पीड़ा शरीर का धर्म है, व्याकुलता की अनुभूति आत्मा का। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें इन दोनों को अलग-अलग देखा जा सकता है। जैन बालक जब उपवास करता है, तो उसे भूख की पीड़ा अवश्य होगी, लेकिन वह पीड़ा की व्याकुलता की अनुभूति नहीं करता। वह उपवास तप के रूप में करता है और तप तो आत्मा का आनन्द है। वह जीवन के सौष्ठव को नष्ट नहीं करता, वरन् जीवन के आनन्द को परिष्कृत करता है।

पुनः तप को केवल देह-दण्डन मानना बहुत बड़ा भ्रम है। देह-दण्डन तप का एक छोटा-सा प्रकार मात्र है। 'तप' शब्द अपने आप में व्यापक है। विभिन्न साधना-पद्धतियों ने तप की विभिन्न परिभाषाएँ की हैं और उन सबका समन्वित स्वरूप ही तप की एक पूर्ण परिभाषा को व्याख्यायित कर सकता है। संक्षेप में जीवन के शोधन एवं परिष्कार के लिए किये गये समग्र प्रयास तप हैं।

यह तप की निर्विवाद परिभाषा है जिसके मूल्यांकन के प्रयास की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती है। जीवन-परिष्कार के प्रयास का मूल्य सर्वग्राह्य है, सर्वस्वीकृत है। इस पर न किसी पूर्ववाले को आपत्ति हो सकती है न पश्चिमवाले को। यहाँ आत्मवादी और भौतिकवादी सभी समभूमि पर स्थित हैं और यदि हम तप की उपर्युक्त परिभाषा को स्वीकृत करके चलते हैं तो निषेधात्मक दृष्टि से तृष्णा, राग, द्वेष आदि चित्त की समस्त अकुशल (अशुभ) वृत्तियों का निवारण एवं विधेयात्मक दृष्टि से सभी कुशल (शुभ) वृत्तियों एवं क्रियाओं का सम्पादन 'तप' कहा जा सकता है।

भारतीय ऋषियों ने हमेशा तप का विराट् अर्थ में ही देखा है। यहाँ श्रद्धा, ज्ञान, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, आर्जव, मार्दव, क्षमा, संयम, समाधि, सत्य, स्वाध्याय, अध्ययन, सेवा, सत्कार आदि सभी शुभ गुणों को तप मान लिया गया है।[1]

अब जैन-परम्परा में स्वीकृत तप के भेदों के मूल्यांकन का किंचित् प्रयास किया जा रहा है।

अनशन में कितनी शक्ति हो सकती है, इसे आज गाँधी-युग का हर व्यक्ति जानता है। हम तो उसके प्रत्यक्ष प्रयोग देख चुके हैं। सर्वोदय समाज-रचना तो उपवास के मूल्य को स्वीकार करती ही है, देश में उत्पन्न अन्न-संकट की समस्या ने भी इस ओर

---

१. गीता, १७।१४-१९

हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इन सबके साथ आज चिकित्सक एवं वैज्ञानिक भी इसकी उपादेयता को सिद्ध कर चुके है। प्राकृतिक चिकित्सा प्रणाली का तो मूल आधार ही उपवास है।

इसी प्रकार ऊनोदरी या भूख से कम भोजन, नियमित भोजन तथा रस-परित्याग का भी स्वास्थ्य की दृष्टि से पर्याप्त मूल्य है। साथ ही यह सयम एवं इन्द्रिय जय मे भी सहायक है। गाधीजी ने तो इसी से प्रभावित हो ग्यारह व्रतो मे अस्वाद व्रत का विधान किया था।

यद्यपि वर्तमान युग भिक्षा-वृत्ति को उचित नही मानता है, तथापि समाज-व्यवस्था की दृष्टि से इसका दूसरा पहलू भी है। जैन आचार-व्यवस्था मे भिक्षावृत्ति के जो नियम प्रतिपादित है वे अपने आप मे इतने सबल है कि भिक्षावृत्ति के सम्भावित दोषो का निराकरण स्वत: हो जाता है। भिक्षावृत्ति के लिए अह का त्याग आवश्यक है और नैतिक दृष्टि मे उसका कम मूल्य नही है।

इसी प्रकार आसन-साधना और एकातवास का योग-साधना की दृष्टि मे मूल्य है। आसन योग-साधना का एक अनिवार्य अंग है।

तप के आभ्यन्तर भेदो मे ध्यान और कायोत्सर्ग का भी साधनात्मक मूल्य है। पुन: स्वाध्याय, वैयावृत्य (सेवा) एव विनय (अनुशासन) का तो सामाजिक एव वैयक्तिक दोनो दृष्टियो से बडा महत्त्व है। सेवाभाव और अनुशासित जीवन ये दोनो सभ्य समाज के आवश्यक गुण है। ईसाई धर्म मे तो इस सेवाभाव को काफी अधिक महत्त्व दिया गया है। आज उसके व्यापक प्रचार का एकमात्र कारण उसकी सेवा-भावना ही तो है। मनुष्य के लिए सेवाभाव एक आवश्यक तत्त्व है जो अपने प्रारम्भिक क्षेत्र मे परिवार से प्रारम्भ होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तक का विशाल आदर्श प्रस्तुत करता है।

स्वाध्याय का महत्त्व आध्यात्मिक विकास और ज्ञानात्मक विकास दोनो दृष्टियो से है। एक ओर वह स्व का अध्ययन है तो दूसरी ओर ज्ञान का अनुशीलन। ज्ञान और विज्ञान की सारी प्रगति के मूल मे तो स्वाध्याय ही है।

प्रायश्चित्त एक प्रकार से अपराधी द्वारा स्वयाचित दण्ड है। यदि व्यक्ति मे प्रायश्चित्त की भावना जागृत हो जाती है तो उसका जीवन ही बदल जाता है। जिस समाज मे ऐसे लोग हो, वह समाज तो आदर्श ही होगा।

वास्तव मे तो तप के इन विभिन्न अगो के इतने अधिक पहलू है कि जिनका समुचित मूल्याकन सहज नही।

तप आचरण मे व्यक्त होता है। वह आचरण ही है। उसे शब्दो मे व्यक्त करना सम्भव नही है। तप आत्मा की ऊषा है, जिसे शब्दो मे बांधा नही जा सकता।

यह किसी एक आचार-दर्शन की बपौती नही, वह तो प्रत्येक जागृत आत्मा की अनुभूति है। उसकी अनुभूति से ही मन के कलुष धुलने लगते है, वासनाएँ शिथिल हो जाती है, अहं गलने लगता है। तृष्णा और कषायो की अग्नि तप की ऊष्मा के प्रकट होते ही निःशेष हो जाती है। जडता क्षीण हो जाती है। चेतना और आनन्द का एक नया आयाम खुल जाता है, एक नवीन अनुभूति होती है। शब्द और भाषा मौन हो जाती है, आचरण की वाणी मुखरित होने लगती है।

तप का यही जीवन्त और जागृत शाश्वत स्वरूप है जो सार्वजनीन और सार्वकालिक है। सभी साधना-पद्धतिया इसे मानकर चलती है और देश काल के अनुसार इसके किसी एक द्वार से साधको को तप के इस भव्य महल मे लाने का प्रयास करती है, जहा साधक अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करता है, आत्मन ब्रह्म या ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

तप एक ऐसा प्रशस्त योग है जो आत्मा को परमात्मा से जोड देता है, आत्मा का परिष्कार कर उसे परमात्म-स्वरूप बना देता है।

निवृत्तिमार्ग एवं प्रवृत्तिमार्ग का विकास

आचार-दर्शन के क्षेत्र मे प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रश्न सदैव ही गम्भीर विचार का विषय रहा है। आचरण के क्षेत्र मे ही अनैतिकता की सम्भावना रहती है, क्रिया मे ही बन्धन की क्षमता होती है। इसलिए कहा गया कि कर्म मे बन्धन होता है। प्रश्न उठता है कि यदि कर्म अथवा आचरण ही बन्धन का कारण है तो फिर क्यो न इसे त्याग कर निष्क्रियता का जीवन अपनाया जाये। बस, इसी विचार के मूल मे निवृत्ति वादी अथवा नैष्कर्म्यवादी सन्यासमार्ग का बीज है। निष्पाप जीवन जीने की उमग मे ही निवृत्तिवादी परम्परा मनुष्य को कर्मक्षेत्र मे दूर निर्जन वनखण्ड एवं गिरि-गुफाओ मे ले गयी, जहाँ यथासम्भव निष्कर्म जीवन सुलभतापूर्वक बिताया जा सके। दूसरी ओर जिन लोगो ने कर्मक्षेत्र से भागना तो नही चाहा, लेकिन पाप के भय एवं भावी सुखद जीवन की कल्पना से अपने को मुक्त नही रख सके उन्होने पाप-निवृत्ति एव जीवनकी मगलकामना के लिए किसी ऐसी अदृश्य सत्ता मे विश्वास किया जो उन्हे आचरित पाप से मुक्त कर सके और जीवन मे सुख-सुविधाओ की उपलब्धि कराये। इतना ही नही, उन्होने उस सत्ता को प्रसन्न करने के लिए अनेक विधि-विधानो का निर्माण कर लिया और यही से प्रवृत्ति मार्ग या कर्मकाण्ड की परम्परा का उद्भव हुआ।

भारतीय आचार-दर्शन के इतिहास का पूर्वार्ध प्रमुखत इन दोनो निवर्तक एव प्रवर्तक धर्मो के उद्भव, विकास और सघर्ष का इतिहास है, जबकि उत्तरार्ध इनके समन्वय का इतिहास है। जैन, बौद्ध एव गीता के आचार-दर्शनो का विकास इन दोनो परम्पराओ के सघर्ष-युग के अन्तिम चरण मे हुआ है। इन्होने इस सघर्ष को मिटाने के हेतु समन्वय की नई दिशा दी। जैन एव बौद्ध विचार-परम्पराएँ यद्यपि निवर्तक धर्म को ही शाखाये थी, तथापि उन्होने अपने अन्दर प्रवर्तक धर्म के कुछ तत्त्वो का समावेश किया और उन्हे नई परिभाषाये प्रदान की। लेकिन गीता तो समन्वय के विचार को लेकर ही आगे आयी थी। गीता मे अनासक्तियोग के द्वारा प्रवृत्ति और निवृत्ति का सुमेल कराने का प्रयास है।

निवृत्ति-प्रवृत्ति के विभिन्न अर्थ—निवृत्ति एव प्रवृत्ति शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होते रहे है। साधारणतया निवृत्ति का अर्थ है अलग होना और प्रवृत्ति का अर्थ है प्रवृत्त होना या लगना। लेकिन इन अर्थो को लाक्षणिक रूप मे लेते हुए प्रवृत्ति और

निवृत्ति के अनेक अर्थ किये गये। यहाँ विभिन्न अर्थों को दृष्टि मे रखते हुए विचार करेंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति सक्रियता एवं निष्क्रियता के अर्थ में

निवृत्ति शब्द नि: + वृत्ति इन दो शब्दों के योग से बना है। वृत्ति से तात्पर्य कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियायें हैं। वृत्ति के साथ लगा हुआ निस् उपसर्ग निषेध का सूचक है। इस प्रकार निवृत्ति शब्द का अर्थ होता है कायिक, वाचिक एवं, मानसिक क्रियाओं का अभाव। निवृत्तिपरकता का यह अर्थ लगाया जाता है कि कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के अभाव की ओर बढ़ना, उनको छोड़ना या कम करते जाना, जिसे हम कर्म संन्यास कह सकते है। इस प्रकार समझा यह जाता है कि निवृत्ति का अर्थ जीवन से पलायन है, मानसिक, वाचिक एवं कायिक कर्मों की निष्क्रियता है। लेकिन भारतीय आचार-दर्शनों मे से कोई भी निवृत्ति को निष्क्रियता के अर्थ मे स्वीकार नही करता। क्योंकि कर्म-क्षेत्र मे कायिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं की पूर्ण निष्क्रियता सम्भव ही नही है।

जैन दृष्टिकोण—यद्यपि जैनधर्म मे मुक्ति के लिए मन, वाणी और शरीर की वृत्तियो का निरोध आवश्यक माना गया है फिर भी उसमे विशुद्ध चेतना एवं शुद्ध ज्ञान की अवस्था पूर्ण निष्क्रियावस्था नही है। जैनधर्म तो मुक्तदशा मे भी आत्मा मे ज्ञान की अपेक्षा मे परिणमनशीलता (सक्रियता) को स्वीकार कर पूर्ण निष्क्रियता की अवधारणा को अस्वीकार कर देता है। जहाँ तक दैहिक एवं लौकिक जीवन की बात है, जैन-दर्शन पूर्ण निष्क्रिय अवस्था की सम्भावना को ही स्वीकार नही करता। कर्म-क्षेत्र मे क्षणमात्र के लिए भी ऐसी अवस्था नहीं होती जब प्राणी की मन, वचन और शरीर की समग्र क्रियायें पूर्णत: निरुद्ध हो जायें। उसके अनुसार अनासक्त जीवन्मुक्त अर्हन् मे भी इन क्रियाओं का अभाव नही होता। समस्त वृत्तियों के निरोध का काल ऐसे महापुरुषों के जीवन मे भी एक क्षणमात्र का ही होता है जब कि वे अपने परिनिर्वाण की तैयारी मे होते है। मन, वचन और शरीर की समस्त क्रियाओं के पूर्ण निरोध की अवस्था (जिसे जैन पारिभाषिक शब्दों मे अयोगीकेवली गुणस्थान कहा जाता है) की कालावधि पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण मे लगने वाले समय के बराबर होती है। इस प्रकार जीवन्मुक्त अवस्था मे भी इन क्षणों के अतिरिक्त पूर्ण निष्क्रियता के लिए कोई अवसर ही नहीं होता, फिर सामान्य प्राणी की बात ही क्या? जब आत्मा कृतकार्य हो जाती है, तब भी वह अर्हतावस्था या तीर्थकर दशा मे निष्क्रिय नहीं होती वरन् संघ-सेवा और प्राणियों के आध्यात्मिक विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। तीर्थंकरत्व अथवा अर्हतावस्था प्राप्त करने के बाद संघ-स्थापना और धर्म-चक्र-प्रवर्तन की सारी क्रियाये लोकहित की दृष्टि मे की जाती है जो यही बताती है कि जैन विचारणा न केवल साधना के पूर्वांग के रूप मे क्रियाशीलता को आवश्यक मानती है

वरन् साधना की पूर्णता के पश्चात् भी सक्रिय जीवन को आवश्यक मानती है। अतः कहा जा सकता है कि जैन दर्शन में निवृत्ति को निष्क्रियता के अर्थ में स्वीकार नहीं किया गया है। यद्यपि जैन-साधना का लक्ष्य शुद्ध आध्यात्मिक ज्ञानदशा के अतिरिक्त समस्त शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक कर्मों की पूर्ण निवृत्ति है, लेकिन व्यवहार के क्षेत्र में ऐसी निष्क्रियता कभी भी सम्भव नहीं है। वह मानती है कि जब तक शरीर है तब तक शरीर धर्मों की निवृत्ति सम्भव नहीं। जीवन के लिए प्रवृत्ति नितान्त आवश्यक है, लेकिन मन, वचन और तन को अशुभ प्रवृत्ति में न लगाकर शुभ प्रवृत्ति में लगाना नैतिक साधना का सच्चा मार्ग है। मन, वचन एवं तन का अयुक्त आचरण ही दोषपूर्ण है, युक्त आचरण तो गुणवर्धक है।

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध आचार-दर्शन में भी पूर्ण निष्क्रियता की सम्भावना स्वीकार नहीं की गयी है। यही नहीं, ऐसे अनेक प्रसंग हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि बौद्ध-साधना निष्क्रियता का उपदेश नही देती। विनयपिटक के चूलवग्ग में अर्हत् दर्भ विचार करते हैं कि "मैंने अपने भिक्षु-जीवन के ७ वें वर्ष में ही अर्हत्व प्राप्त कर लिया, मैंने वह सब ज्ञान भी प्राप्त कर लिया जो किया जा सकता है, अब मेरे लिए कोई भी कर्तव्य शेष नही है। फिर भी मेरे द्वारा संघ की क्या सेवा हो सकती है ? यह मेरे लिए अच्छा कार्य होगा कि मैं संघ के आवास और भोजन का प्रबन्ध करूँ।' वे अपने विचार बुद्ध के समक्ष रखते हैं और भगवान् बुद्ध उन्हें इस कार्य के लिए नियुक्त करते हैं?[1] इतना ही नहीं, महायान शाखा में तो बोधिसत्त्व का आदर्श अपनी मुक्ति की इच्छा नही रखता हुआ सदैव ही मन, वचन और तन से प्राणियों के दुःख दूर करने की भावना करता है।[2] भगवान् बुद्ध के द्वारा बोधिलाभ के पश्चात् किये गये संघ-प्रवर्तन एवं लोकमंगल के कार्य स्पष्ट बताते हैं कि लक्ष्य-विद्ध हो जाने पर भी नैष्कर्म्यता का जीवन जीना अपेक्षित नहीं है। बोधिलाभ के पश्चात् स्वयं बुद्ध भी उपदेश करने में अनुत्सुक हुए थे, लेकिन बाद मे उन्होंने अपने इस विचार को छोड़कर लोकमंगल के लिए प्रवृत्ति प्रारम्भ की।[3]

गीता का दृष्टिकोण—गीता का आचार-दर्शन भी यही कहता है कि कोई भी प्राणी किसी भी काल में क्षणमात्र के लिए भी बिना कर्म किये नहीं रहता। सभी प्राणी प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा परवश हुए कर्म करते ही रहते हैं।[4] गीता का आचार-दर्शन तो साधक और सिद्ध दोनों के लिए कर्ममार्ग का उपदेश देता है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन, जो पुरुष मन से इन्द्रियों को वश मे करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है। इसलिए तू शास्त्र-विधि से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म

---

१. विनयपिटक चूलवग्ग, ४।२।१
२. बोधिचर्यावतार, ३।६
३. विनयपिटक, महावग्ग १।१।५
४. गीता ३।५

करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नही होगा। बन्धन के भय से भी कर्मो का त्याग करना योग्य नही है।[1] हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकों मे कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नही है, तो भी मैं कर्म मे ही बर्तता हूँ। इसलिए हे भारत, कर्म मे आसक्त हुए अज्ञानी जन जैसे कर्म करते है, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोकशिक्षा को चाहता हुआ कर्म करे।[2] गीता की भक्तिमार्गीय व्याख्याएँ तो मोक्ष की अवस्था मे भी निष्क्रियता को स्वीकार न कर मुक्त आत्मा को सदैव ही ईश्वर की सेवा मे तत्पर बनाये रखती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों मे निवृत्ति का अर्थ निष्क्रियता नही है। उनके अनुसार निवृत्ति का यह तात्पर्य कदापि नही है कि जीवन मे निष्क्रियता को स्वीकार किया जाये। न तो साधना-काल मे ही निष्क्रियता का कोई स्थान है और न नैतिक आदर्श (अर्हत् अवस्था या जीवन्मुक्ति) की उपलब्धि के पश्चात् ही निष्क्रियता अपेक्षित है। कृतकृत्य होने पर भी तीर्थंकर, सम्यक् सम्बुद्ध और पुरुषोत्तम का जीवन सतत रूप से कृत्यात्मकता का ही परिचय देता है और बताता है कि लक्ष्य की सिद्धि के पश्चात् भी लोकहित के लिए प्रयास करते रहना चाहिए।

गृहस्थ धर्म बनाम संन्यास धर्म

जैन और बौद्ध दृष्टिकोण—यह भी समझा जाता है कि निवृत्ति का अर्थ सन्यासमार्ग है अर्थात् गृहस्थ-जीवन के कर्मक्षेत्र से पलायन। यदि इस अर्थ के सन्दर्भ मे निवृत्ति का विचार करें तो स्वीकार करना होगा कि जैनधर्म और बौद्धधर्म निवर्तक धर्म है, क्योंकि दोनो आचार-परम्पराओ मे स्पष्ट रूप से सन्यास-धर्म का प्रधानता एवं श्रेष्ठता स्वीकृत है। जैनागम दशवैकालिकसूत्र मे कहा गया है—"गृहस्थ-जीवन क्लेशयुक्त है—सन्यास क्लेशशून्य है, गृहस्थवास बन्धनकारक है, सन्यास मुक्ति प्रदाता है। गृहस्थ जीवन पापकारी है, सन्यास निष्पाप है।[3]" बौद्ध ग्रंथ सुत्तनिपात में भी कहा गया है कि 'यह गृहवास कंटको से पूर्ण है, वासनाओ का घर है, प्रव्रज्या खुले आकाश जैसी निर्मल है।'[4] प्रवृत्ति और निवृत्ति के उक्त अर्थ के आधार पर जैन एवं बौद्ध परम्पराएँ निवृत्तिलक्षी ही ठहरती है। दोनो आचार-दर्शन यह मानते है कि परमश्रेय की उपलब्धि के लिए जिस आत्म-सन्तोष, अनासक्तवृत्ति, माध्यस्थभाव या समत्वभाव की अपेक्षा है, वह गृहस्थ-जीवन मे चाहे असाध्य नही हो, तो भी सुसाध्य तो नहीं ही है। इसके लिए जिस एकान्त, निर्मोही एवं शान्त जीवन की आवश्यकता है, वह गृहस्थ अवस्था मे सुलभ नही है। अतः सन्यासमार्ग ही एक ऐसा मार्ग है जिसमे साधना के लिए विघ्न-बाधाओ की सम्भावनाएँ कम होती है।

१. गीता, ३।७-९ २. वही, ३।२२, २५
३. दशवैकालिक चूलिका, १।११.१२,१३ ४. सुत्तनिपात, २७।२

संन्यास मार्ग पर अधिक बल—जैन और बौद्ध परम्पराओं के अनुसार गृही-जीवन नैतिक परमश्रेय की उपलब्धि का एक ऐसा मार्ग है जो सरल होते हुए भी भय से पूर्ण है, जबकि संन्यास ऐसा मार्ग है जो कठोर होने पर भी भयपूर्ण नहीं है। गृही-जीवन में साधना के मूल तत्त्व अर्थात् मनःस्थिरता को प्राप्त करना दुष्कर है। संन्यास-मार्ग साधना की व्यावहारिक दृष्टि से कठोर प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः सुसाध्य है, जब कि गृहस्थ-मार्ग व्यावहारिक दृष्टि से सुसाध्य प्रतीत होते हुए भी दुःसाध्य है, क्योंकि नैतिक विकास के लिए जिस मनो-सन्तुलन की आवश्यकता है वह संन्यास में सहज प्राप्त है, उसमें चित्त विचलन के अवसर अति न्यून हैं, जबकि गृहस्थ जीवन में वन-खण्ड की तरह बाधाओं से भरा है। जैसे गिरिकन्दराओं में सुरक्षित रहने के लिए विशेष साहस एवं योग्यता अपेक्षित है, वैसे ही गृहस्थ-जीवन में नैतिक पूर्णता प्राप्त करना विशेष योग्यता का ही परिचायक है।

गृही-जीवन में साधना के मूल तत्त्व अर्थात् मनःस्थिरता को सुरक्षित रखते हुए लक्ष्य तक पहुँच पाना कठिन होता है। राग-द्वेष के प्रसंगों की उपस्थिति की सम्भावना गृही-जीवन में अधिक होती है, अतः उन प्रसंगों में राग-द्वेष नहीं करना या अनासक्ति रखना एक दुःसाध्य स्थिति है, जबकि संन्यासमार्ग में इन प्रसंगों की उपस्थिति के अवसर अल्प होते हैं, अतः इसमें नैतिकता की समत्वरूपी साधना सरल होती है। गृहस्थ-जीवन में साधना की ओर जाने वाला रास्ता फिसलन भरा है, जिसमें कदम कदम पर सतर्कता की आवश्यकता है। यदि साधक एक क्षण के लिए भी आवेगों के प्रवाह में नहीं संभला तो फिर बच पाना कठिन होता है। वासनाओं के बवंडर के मध्य रहते हुए भी उनसे अप्रभावित रहना सहज कार्य नहीं है। महावीर और बुद्ध ने मानव की इन दुर्बलताओं को समझकर ही संन्यासमार्ग पर जोर दिया।

जैन और बौद्ध दर्शन में संन्यास निरापद मार्ग—महावीर या बुद्ध की दृष्टि में संन्यास या गृहस्थ धर्म नैतिक जीवन के लक्ष्य नहीं है, वरन् साधन हैं। नैतिकता संन्यास धर्म या गृहस्थधर्म की प्रक्रिया में नहीं है, वरन् चित्त की समत्ववृत्ति में है, राग-द्वेष के प्रहाण में है, माध्यस्थभाव में है। नैतिक मूल्य तो मानसिक समत्व या अनासक्ति का है। महावीर या बुद्ध का आग्रह कभी भी साधनों के लिए नहीं रहा। उनका आग्रह तो साध्य के लिए है। हाँ, वे यह अवश्य मानते हैं कि नैतिकता के इस आदर्श की उपलब्धि का निरापद मार्ग संन्यासधर्म है, जब कि गृहस्थधर्म बाधाओं से परिपूर्ण है, निरापद मार्ग नहीं है। जैन-दर्शन के अनुसार, जिसमे मरुदेवी जैसी निश्छलता और भरत जैसी जागरूकता एवं अनासक्ति हो, वही गृहस्थ जीवन में भी नैतिक परमलक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण को प्राप्त करनेवाले सौ पुत्रों में यह केवल भरत की ही विशेषता थी जिसने गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी पूर्णता को प्राप्त किया। शेष ९९ पुत्रों ने तो परमसाध्य की प्राप्ति के लिए संन्यास का सुकर मार्ग ही चुना।

वस्तुतः गृहस्थ-जीवन मे नैतिक साध्य को प्राप्त कर लेना दुःसाध्य कार्य है। वह तो आग मे खेलते हुए भी हाथ को नही जलने देने के समान है। गीता भी जब यह कहती कि कर्म-सन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है तो उसका यही तात्पर्य है कि सन्यास की अपेक्षा गृहस्थ जीवन मे रहते हुए जो नैतिक पूर्णता प्राप्त की जाती है वह विशेष महत्वपूर्ण है।[1] लेकिन इसका अर्थ यह भी नही है कि गृहस्थ-जीवन सन्यासमार्गकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। यदि दो मार्ग एक ही लक्ष्य की ओर जाते हो, लेकिन उनमे से एक बाधाओ से पूर्ण हो, लम्बा हो और दूसरा मार्ग निरापद हो, कम लम्बा हो तो कोई भी पहले मार्ग को श्रेष्ठ नही कहेगा। श्रेष्ठ मार्ग तो दूसरा ही कहलायेगा। हा, बाधाओ मे परिपूर्ण मार्ग से होकर जो साधक लक्ष्य तक पहुँचता है वह अवश्य ही विशेष योग्य कहा जायेगा।[2] जैन और बौद्ध आचार-दर्शन यद्यपि सन्यासमार्ग पर अधिक जोर देते है और इस अर्थ में निवृत्यात्मक ही है, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नही है कि गृहस्थ-जीवन मे रह कर नैतिक साधना को पूर्णता को प्राप्त नही किया जा सकता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि सन्यासमार्ग के द्वारा नैतिक साधना या आध्यात्मिक समत्वकी उपलब्धि करना अधिक सुलभ है।

क्या सन्यास पलायन है?—जो लोग निवृत्तिमार्ग या सन्यासमार्ग को पलायन-वादिता कहते है, वे भी किसी अर्थ मे ठीक है। सन्यास इस अर्थ मे पलायन है कि वह हमे उस सुरक्षित स्थान की ओर भाग जाने को कहता है जिसमे रहकर नैतिक विकास सुलभ होता है। वह नैतिक विकास या आध्यात्मिक समत्व की उपलब्धि के मार्ग मे वासनाओं के मध्य रहकर उनमे संघर्ष करने की बात नही कहता, वरन् वासनाओं के क्षेत्र से बच निकलने की बात कहता है। संन्यासमार्ग मे साधक वासनाओं के मध्य रहते हुए उनमे ऊपर नही उठता, वरन् वह उनसे बचने का ही प्रयास करता है। वह उन सब प्रसंगों मे जहाँ इस आध्यात्मिक समत्व या नैतिक जीवन से विचलन की सम्भावनाओं का भय होता है, दूर रहने का ही प्रयास करता है। वह वासनाओं से संघर्ष का पथ नही चुनता, वरन् वासनाओं से निरापद मार्ग को ही चुनता है। वह वासनाओं मे संघर्ष के अवसरों को कम करने का प्रयास करता है। वह संघर्ष के प्रसंगों से दूर रहना या बचना चाहता है। इन सब अर्थो मे निश्चय ही सन्यासमार्ग पलायन है, लेकिन ऐसी पलायनवादिता अनुचित तो नही कही जा सकती। क्या निरापदमार्ग चुनना अनुचित है? क्या पतन के भय मे बचने का प्रयास करना अनुचित है? क्या उन संघर्षो के अवसरों को, जिनमे पतन की सम्भावना हो, टालना अनुचित है? सन्यास पलायन तो है लेकिन वह अनुचित नही है; वरन् मानवीय बुद्धि का ही परिचायक है।

१. गीता, ५।२

२. स्थूलिभद्र का कोशा वेश्या के यहाँ चातुर्मास करने का सम्पूर्ण कथानक इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट कर देता है।

समत्व के भंग होने के अवसर या राग-द्वेष के प्रसग गृहस्थ जीवन मे अधिक होते है और यदि कोई साधक उस अवस्था मे समत्व दृष्टि रख पाने मे अपने को असमर्थ पाता है तो उसके लिए यही उचित है कि वह सन्यास के सुरक्षित क्षेत्र मे ही विचरण करे। जैसे चोरों से धन की सुरक्षा के लिए व्यक्ति के सामने दो विकल्प हो सकते है—एक तो यह कि व्यक्ति अपने मे इतनी योग्यता एवं साहस विकसित कर ले कि वह कभी भी चोरो से संघर्ष मे पराभूत न हो, किन्तु यदि वह अपने मे इतना साहस नही पाता है तो उचित यही है कि वह किसी सुरक्षित एव निरापद स्थान की ओर चला जाय। इसी प्रकार सन्यास आत्मा के समत्वरूप धन की सुरक्षा के लिए निरापद स्थान में रहना है, जिसे बौद्धिक दृष्टि से असगत नही माना जा सकता। जैन-धर्म संन्यासमार्ग पर जो बल देता है, उसके पीछे मात्र यही दृष्टि है कि अधिकाश व्यक्तियो मे इतनी योग्यता का विकास नही हो पाता कि वे गृही-जीवन मे, जो कि राग-द्वेष के प्रसगो का केन्द्र है, अनासक्त या समत्वपूर्ण मन स्थिति बनाये रख सकें। अतः उनके लिए सन्यास ही निरापद क्षेत्र है। सन्यास का महत्त्व या आग्रह साधन-मार्ग की सुलभता की दृष्टि से है। साध्य से परे साधन का मूल्य नही होता। जेन एवं बौद्ध दृष्टि मे सन्यास का जो भी मूल्य है, साधन की दृष्टि से है। समत्वरूप साध्य की उपलब्धि की दृष्टि से तो जहाँ भी समभाव की उपस्थिति है, वह स्थान समान मूल्य का है, चाहे वह गृहस्थ-धर्म हो या सन्यास-धर्म।

गृहस्थ और संन्यस्त जीवन की श्रेष्ठता ?

गृहस्थ और संन्यास जीवन मे कौन श्रेष्ठ है इसका उत्तराध्ययनसूत्र में विचार हुआ है। उसी प्रसग को स्पष्ट करते हुए उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते है, 'यह जीवन का क्षेत्र है, यहाँ श्रेष्ठता और निम्नता का मापतौल आत्म-परिणति पर आधारित है। किसी-किसी गृहस्थ का जीवन सन्त के जीवन से भी श्रेष्ठ होता है, यदि वह अपने कर्तव्य-पथ पर पूरी ईमानदारी के साथ चल रहा है।....कौन छोटा है और कौन बडा ? इसकी नापतौल साधु और गृहस्थ के भेदभाव से नही की जा सकती। साधु और श्रावक, जो भी अपने दायित्वो को भली प्रकार निभा रहा है, जिन्दगी के मोर्चे पर सावधानी के साथ खडा हुआ है वही श्रेष्ठ और महत्त्वपूर्ण है। यह अनेकान्त-दृष्टि है। यहाँ वेश को महत्ता नही दी जाती, बाह्य जीवन को नही देखा जाता, किन्तु अन्तरात्मा के विचारो को टटोला जाता है। कौन कितना कर रहा है (मात्र) यह नही देखा जाता, पर कौन कैसा कर रहा है इसी पर ध्यान दिया जाता है।'[1] वस्तुत. जैन-दर्शन के अनुसार गृहस्थ और सन्यासी के जीवन मे श्रेष्ठता और अश्रेष्ठता का माप सामान्य दृष्टि और वैयक्तिक दृष्टि ऐसे दो आधारो पर किया जाता है। सामान्यतः संन्यासधर्म श्रेष्ठ

---

१. अमरभारती, मई १९६५, पृ० १०

है, क्योकि यह नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास का सुलभ मार्ग है, उसमे पतन की सम्भावनाओं की अल्पता है; जब कि व्यक्तिगत आधार पर गृहस्थधर्म भी श्रेष्ठ हो सकता है। जो व्यक्ति गृहस्थ जीवन मे भी अनासक्त भाव से रहता है, कीचड मे रह कर भी उससे अलिप्त रहता है, वह निश्चय ही साधारण साधुओ की अपेक्षा श्रेष्ठ है। गृहस्थ के वर्ग मे साधुओं का वर्ग श्रेष्ठ होता है, लेकिन कुछ साधुओ की अपेक्षा कुछ गृहस्थ भी श्रेष्ठ होते है।[1] गृहस्थ के प्रवृत्यात्मक जीवन और साधु के निवृत्यात्मक जीवन के प्रति जैन-दृष्टि का यही सार है। उसे न गृहस्थ-जीवन की प्रवृत्ति का आग्रह है और न सन्यास-मार्ग की निवृत्ति का आग्रह है। उसे यदि आग्रह है तो वह अनाग्रह का ही आग्रह है, अनासक्ति का ही आग्रह है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही उसे स्वीकार है—यदि वे इस अनाग्रह या अनासक्ति के लक्ष्य की यात्रा में सहायक है। गृहस्थ जीवन और सन्यास के यह बाह्य भेद उसकी दृष्टि मे उतने महत्त्वपूर्ण नही है, जितनी साधक की मन स्थिति एव उसकी अनासक्त भावना। वेशविशेष या आश्रम विशेष का ग्रहण साधना का सही अर्थ नही है। उत्तरा-ध्ययनसूत्र मे स्पष्ट निर्देश है, 'चीवर, मृगचर्म, नग्नत्व, जटा, जीर्ण वस्त्र और मुण्डन अर्थात् सन्यास जीवन के बाह्य लक्षण दुःशील की दुर्गति मे रक्षा नही कर सकते। भिक्षु भी यदि दुराचारी हो तो नरक मे बच नहीं सकता। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, सम्यक् आचरण करनेवाला दिव्य लोको को ही जाता है। गृहस्थ हो अथवा भिक्षु, जो भी कषायो एव आसक्ति से निवृत्त है एव सयम एव तप से परिवृत है, वह दिव्य स्थानो को ही प्राप्त करता है।[2]

गीता का दृष्टिकोण—वैदिक आचार-दर्शन मे भी प्रवृत्ति और निवृत्ति क्रमशः गृहस्थ धर्म और सन्यास धर्म के अर्थ मे गृहीत है। इस अर्थ विवक्षा के आधार पर वैदिक परम्परा मे प्रवृत्ति और निवृत्ति का यथार्थ स्वरूप समझने का प्रयास करने पर ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा मूल रूप मे चाहे प्रवृत्ति परक रही हो, लेकिन गीता के युग तक उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के तत्त्व समान रूप से प्रतिष्ठित हो चुके थे। परमसाध्य की प्राप्ति के लिए दोनो को ही साधना का मार्ग मान लिया गया था। महाभारत शान्तिपर्व मे स्पष्ट लिखा है कि 'प्रवृत्ति लक्षण धर्म (गृहस्थ धर्म) और निवृत्ति लक्षण धर्म (सन्यास धर्म) यह दोनों ही मार्ग वेदों मे समान रूप मे प्रतिष्ठित है।[3] गीता मे श्रीकृष्ण कहते है, 'हे निष्पाप अर्जुन, पूर्व मे ही मेरे द्वारा जीवन शोधन की इन दोनों प्रणालियों का उपदेश दिया गया था। उनमे ज्ञानी या चिन्तनशील व्यक्तियों के लिए ज्ञानमार्ग या सन्यासमार्ग[4] का और कर्मशील व्यक्तियो के लिए

---

१. उत्तराध्ययन, ५।२०
२. वही, ५।२०–२३, २८
३. महाभारत शान्तिपर्व, २४०।६०
४. गीता (शा), ३।३

कर्ममार्ग[1] का उपदेश दिया गया है।[2] यद्यपि गीता के टीकाकार उन दोनों में से किसी एक की महत्ता को स्थापित करने का प्रयास करते रहे हैं।

शंकर का संन्यासमार्गीय दृष्टिकोण—आचार्य शंकर गीता भाष्य में गीता के उन समस्त प्रसंगों की, जिनमें कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों को समान बल वाला माना गया है अथवा कर्मयोग की विशेषता का प्रतिपादन किया गया है, व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत करने की कोशिश करते हैं कि संन्यासमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिष्ठापित हो। वे लिखते हैं, 'प्रवृत्तिरूप कर्मयोग की और निवृत्तिरूप परमार्थ या संन्यास के साथ जो समानता स्वीकार की गयी है, वह किसी अपेक्षा से ही है। परमार्थ(संन्यास) के साथ कर्मयोग की कर्तृ-विषयक समानता है। क्योंकि जो परमार्थ संन्यासी है वह सब कर्म-साधनों का त्याग कर चुकता है, इसलिए सब कर्मों का और उनके फलविषयक संकल्पों का, जो कि प्रवृत्ति हेतुक काम के कारण हैं, त्याग करता हैं और इस प्रकार परमार्थ संन्यास की और कर्मयोग की कर्ता के भावविषयक त्याग की अपेक्षा से समानता है।[3] गीता के एक अन्य प्रसंग की, जिसमें कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की विशेषता का प्रतिपादन किया है, आचार्य शंकर व्याख्या करते हैं कि 'ज्ञानरहित केवल संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग विशेष है।[4] इस प्रकार आचार्य शंकर यही सिद्ध करने का प्रयास करते है कि गीता में ज्ञानसहित संन्यास तो निश्चय ही कर्मयोग से श्रेष्ठ माना गया है। उनके अनुसार कर्मयोग तो ज्ञान-प्राप्ति का साधन है,[5] लेकिन मोक्ष तो ज्ञानयोग से ही होता है और ज्ञाननिष्ठा के अनुष्ठान का अधिकार संन्यासियों का ही है।

तिलक का कर्ममार्गीय दृष्टिकोण—तिलक के अनुसार गीता कर्ममार्ग की प्रतिपादक है। उनका दृष्टिकोण शंकर के दृष्टिकोण से विपरीत है। वे लिखते हैं कि इस प्रकार यह प्रकट हो गया कि कर्म-संन्यास और निष्काम-कर्म दोनों वैदिक धर्म के स्वतन्त्र मार्ग हैं और उनके विषय मे गीता का यह निश्चित सिद्धान्त है कि वे वैकल्पिक नही हैं, किन्तु संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग की योग्यता विशेष है।[6] वे गीता के इस कथन पर कि 'कर्म-संन्यास से कर्मयोग विशेष है' (कर्म संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते) अत्यधिक भार देते हैं और उसको ही मूल-केन्द्र मानकर समग्र गीता के दृष्टिकोण को स्पष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना है कि गीता स्पष्ट रूप से यह भी संकेत करती है कि बिना संन्यास ग्रहण कियेहुए भी व्यक्ति परम-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। गीताकार ने जनकादि का उदाहरण देकर अपनी इस मान्यता को परिपुष्ट किया है।[7] अतः गीता को गृहस्थधर्म या प्रवृत्तिमार्ग का ही प्रतिपादक मानना चाहिए।

---

१. गीता, ३।३ २. वही, ३।३ ३. गीता (शां) ६।२
४. वही ५।२ ५. वही ३।३ ६. गीता-रहस्य, पृ० ३२०
७. गीता, ३।२०

गीता का दृष्टिकोण समन्वयात्मक—गीता में प्रवृत्तिप्रधान गृहस्थधर्म और निवृत्ति-प्रधान सन्यासधर्म दोनों स्वीकृत है। गीता के अधिकांश टीकाकार भी इस विषय में एकमत है कि गीता में दोनों प्रकार की निष्ठाएँ स्वीकृत हैं। दोनों से ही परमसाध्य की प्राप्ति सभव है। लोकमान्य तिलक लिखते हैं 'ये दोनों मार्ग अथवा निष्ठाएँ ब्रह्मविद्या-मूलक है। दोनों मे मन की निष्कामावस्था और शान्ति (समत्ववृत्ति) एक ही प्रकार की है। इस कारण दोनों मार्गो से अन्त मे मोक्ष प्राप्त होता है। ज्ञान के पश्चात् कर्म को (अर्थात् गृहस्थ धर्म को) छोड बैठना और काम्य (आसक्तियुक्त) कर्म छोडकर निष्काम कर्म (अनासक्तिपूर्वक व्यवहार) करते रहना, यही इन दोनों मे भेद है।[1] दूसरी ओर आचार्य शकर ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि सन्यास का वास्तविक अर्थ विशेष परि-धान को धारण कर लेना अथवा गृहस्थ कर्म का परित्याग कर देना मात्र नही है। वास्तविक सन्यास तो कर्म-फल, सकल्प, आसक्ति या वासनाओं का परित्याग करने मे है। वे कहते है कि केवल अग्निरहित, क्रियारहित पुरुष ही संन्यासी या योगी है, ऐसा नही मानना चाहिए। कर्म-फल के सकल्प का त्याग होने से ही सन्यासित्व है,[2] न केवल अग्निरहित और क्रियारहित (व्यक्ति) सन्यासी या योगी होता है, किन्तु जो कोई कर्म करने वाला (गृहस्थ) भी कर्मफल और आसक्ति को छोडकर अन्तःकरण की शुद्धिपूर्वक कर्मयोग मे स्थित है, वह भी सन्यासी और योगी है।[3]

वस्तुत गीताकार की दृष्टि मे सन्यासमार्ग और कर्ममार्ग दोनो ही परमलक्ष्य की ओर ले जाने वाले है जो एक का भी सम्यक्रूप मे पालन करता है वह दोनों के फल को प्राप्त कर लेता है।[4] जिस स्थान की प्राप्ति एक सन्यासी करता है, उसी स्थान की प्राप्ति एक अनासक्त गृहस्थ (कर्मयोगी) भी करता है।[5] गीताकार का मूल उपदेश न तो कर्म करने का है और न कर्म छोडने का है। उसका मुख्य उपदेश तो आसक्ति या कामना के त्याग का है। गीताकार की दृष्टि मे नैतिक जीवन का सार तो आसक्ति या फलाकाक्षा का त्याग है। जो विचारक गीता की इस मूल भावना को दृष्टि में रखकर विचार करेंगे उन्हे कर्म-सन्यास और कर्मयोग मे अविरोध ही दिखाई देगा। गीता की दृष्टि मे कर्म-संन्यास और कर्मयोग, दोनो नैतिक जीवन के बाह्य शरीर है, नैतिकता की मूलात्मा समत्व या निष्कामता है। यदि निष्कामता है, समत्वयोग की साधना है, वीतरागदृष्टि है, तो कर्मसन्यास की अवस्था हो या कर्मयोग की, दोनो ही समान रूप से नैतिक आदर्श की उपलब्धि कराते है। इसके विपरीत यदि उनका अभाव है तो कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनो ही अर्थशून्य है, नैतिकता की दृष्टि मे उनका कुछ भी मूल्य नही है। गीताकार का कहना है कि यदि साधक अपनी परि-स्थिति या योग्यता के आधार पर सन्यासमार्ग (कर्मसन्यास) को अपनाता है तो उसे यह

१. गीतारहस्य, पृ० ३५८। २. गीता (शा०), ६।१ ३. वही, ६ पूर्वभूमिका
४. वही, ५।४ ५. वही ५।५

स्मरण रखना चाहिए कि जब तक कर्मासक्ति या फलाकाक्षा समाप्त नहीं होती, तब तक केवल कर्मसंन्यास से मुक्ति नही मिल सकती। दूसरी ओर यदि साधक अपनी परिस्थिति या योग्यता के आधार पर कर्मयोग के मार्ग को चुनता है तो भी यह ध्यान मे रखना चाहिए कि फलाकांक्षा या आसक्ति का त्याग तो अनिवार्य है।

संक्षेप में, गीताकार का दृष्टिकोण यह है कि यदि कर्म करना है तो उसे अनासक्तिपूर्वक करो और यदि कर्म छोडना है तो केवल बाह्य कर्म का परित्याग ही पर्याप्त नही है, कर्म की आन्तरिक वासनाओं का त्याग ही आवश्यक है। गीता मे बाह्य कर्म करने और छोड़ने का जो विधि-निषेध है वह औपचारिक है, कर्तव्यता का प्रतिपादक नही है। वास्तविक कर्तव्यता का प्रतिपादक विधि-निषेध तो आसक्ति, तृष्णा, ममत्व आदि के सम्बन्ध मे है। गीता का प्रतिपाद्य विषय तो समत्वपूर्ण वीतरागदृष्टि की प्राप्ति और आसक्ति का परित्याग ही है। यह महत्त्वपूर्ण नही है कि मनुष्य प्रवृत्ति-लक्षण-रूप गृहस्थधर्म का आचरण कर रहा है या निवृत्ति-लक्षणरूप सन्यासधर्म का पालन कर रहा है। महत्त्वपूर्ण यह है कि वह वासनाओ से कितना ऊपर उठा है, आसक्ति की मात्रा कितने अश में निर्मूल हुई है और समत्वदृष्टि की उपलब्धि मे उसने कितना विकास किया है।

निष्कर्ष—यदि हम इस गहन विवेचना के आधार रूप निवृत्ति का अर्थ राग-द्वेष से अलिप्त रहना माने तो तीनों आचार-दर्शन निवृत्तिपरक ही सिद्ध होते हैं। जैन दर्शन का मूल केन्द्र अनेकान्तवाद जिस समन्वय की भूमिका पर विकसित होता है वह मध्यस्थ भाव है और वही राग-द्वेष से अलिप्तता है। यही जैन-दृष्टि मे यथार्थ निवृत्ति है। पं० सुखलालजी लिखते है, "अनेकान्तवाद जैन तत्त्वज्ञान की मूल नींव है और राग-द्वेष के छोटे-बड़े प्रसंगों मे अलिप्त रहना (निवृत्ति) समग्र आचार का मूल आधार है। अनेकान्तवाद का केन्द्र मध्यस्थता मे है और निवृत्ति भी मध्यस्थता मे ही पैदा होती है। अतएव अनेकान्तवाद और निवृत्ति ये दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक है। ....जैन-धर्म का झुकाव निवृत्ति की ओर है। निवृत्ति याने प्रवृत्ति का विरोधी दूसरा पहलू। प्रवृत्ति का अर्थ है राग-द्वेष के प्रसंगों मे रत होना। जीवन मे गृहस्थाश्रम राग-द्वेष के प्रसंगों के विधान का केन्द्र है। अतः जिस धर्म मे गृहस्थाश्रम (राग-द्वेष के प्रसंगों से युक्त अवस्था) का विधान किया गया हो वह प्रवृत्ति-धर्म, और जिस धर्म मे (ऐसे) गृहस्थाश्रम का नहीं, परन्तु केवल त्याग का विधान किया गया हो वह निवृत्ति-धर्म। जैन-धर्म निवृत्ति धर्म होने पर भी उसके पालन करनेवालों में जो गृहस्थाश्रम का विभाग है, वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश मे निवृत्ति प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति जितने अंशों मे निवृत्ति का सेवन न कर सके उन अंशों मे अपनी परिस्थिति के अनुसार विवेकदृष्टि से प्रवृत्ति की मर्यादा कर सकते हैं, परन्तु उस प्रवृत्ति का विधान जैनशास्त्र

नहीं करता, उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है"।[1] इस प्रकार इस संदर्भ में जहाँ गीता प्रवृत्तिपरक निवृत्ति का विधान करती है वहाँ बौद्ध और जैन दर्शन निवृत्तिपरक प्रवृत्ति का विधान करते हैं, यद्यपि राग-द्वेष से निवृत्ति तीनों आचार दर्शनों को मान्य है।

भोगवाद बनाम वैराग्यवाद

प्रवृत्ति और निवृत्ति का तात्पर्य यह भी लिया जाता है कि प्रवृत्ति का अर्थ है—बन्धन के हेतुरूप भोग-मार्ग और निवृत्ति का अर्थ है—मोक्ष के हेतुरूप वैराग्य-मार्ग।[2] भोगवाद और वैराग्यवाद नैतिक जीवन की दो विधाएँ हैं। इन्ही को भारतीय औपनिषदिक चिन्तन में प्रेयोमार्ग और श्रेयोमार्ग भी कहा गया है। कठोपनिषद् का ऋषि कहता है, जीवन में श्रेय और प्रेय दोनों के ही अवसर आते रहते हैं। विवेकी पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का ही वरण करता है, जबकि मन्दबुद्धि अविवेकी जन श्रेय को छोड़कर शारीरिक योग-क्षेम के निमित्त प्रेय (भोगवाद) का वरण करता है।[3]

भोगवाद और वैराग्यवाद भारतीय नैतिक चिन्तन की आधारभूत धारणाएँ हैं। वैराग्यवाद शरीर और आत्मा अथवा वासना और बुद्धि के द्वैत पर आधारित धारणा है। वह यह मानता है कि आत्मलाभ या चिन्तनमय जीवन के लिए वासनाओं का परित्याग आवश्यक है। वासनाएँ ही बन्धन का कारण हैं, समस्त दुःखों की मूल हैं। वासनाएँ इन्द्रियों के माध्यम से ही अपनी माँगों को प्रस्तुत करती हैं, और उनके द्वारा ही अपनी पूर्ति चाहती हैं, अतः शरीर और इन्द्रियों की माँगों को ठुकराना श्रेयस्कर है। बेन्थम वैराग्यवाद के सम्बन्ध में लिखते हैं कि उन (वैराग्यवादियों) के अनुसार कोई भी चीज़ जो इन्द्रियों को तुष्ट करती है, घृणित है और इन्द्रियों को तुष्ट करना अपराध है।[4]

इसके विपरीत भोगवाद यह मानता है कि जो शरीर है, वही आत्मा है अतः शरीर की माँगों की पूर्ति करना उचित एवं नैतिक है। भोगवाद बुद्धि के ऊपर वासना का शासन स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में बुद्धि वासनाओं की दासी है। उसे वही करना चाहिए जिससे वासनाओं की पूर्ति हो।

औपनिषदिक चिन्तन और जैन, बौद्ध एवं गीता के आचार-दर्शनों के विकास के पूर्व ही भारतीय चिन्तन में ये दोनों विधाएँ उपस्थित थीं। भारतीय नैतिक चिन्तन में चार्वाक और किसी सीमा तक वैदिक परम्परा भोगवादका और जैन, बौद्ध एवं किसी सीमा तक सांख्य-योग की परम्परा संन्यासमार्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। भोग-वाद प्रवृत्तिमार्ग है और वैराग्यवाद या संन्यासमार्ग निवृत्तिमार्ग है।

वैराग्यवादी विचार-परम्परा का साध्य चित्त शान्ति, आध्यात्मिक परितोष, आत्म-लाभ एवं आत्म-साक्षात्कार है, जिसे दूसरे शब्दों में मोक्ष, निर्वाण या ईश्वर साक्षात्कार

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० १२६
२. गीता (शां०), १८।३०
३. कठोपनिषद् १।२।२
४. नीतिप्रवेशिका, पृ० १९८ पर उद्धृत।

भी कहा जा सकता है। इस साध्य के साधन के रूप में वे ज्ञान को स्वीकार करते हैं और कर्म का निषेध करते हैं। विवेच्य आचार-दर्शनों में बौद्ध एवं जैन परम्पराओं को निश्चय ही वैराग्यवादी परम्पराएँ कहा जा सकता है। इतना नही, यदि हम भोगवाद का अर्थ वासनात्मक जीवन लेते हैं तो गीता की आचार-परम्परा को भी वैराग्यवादी परम्परा ही मानना होगा। लेकिन गहराई से विचार करने पर विवेच्य आचार दर्शनों को वैराग्य-वाद के उस कठोर अर्थ मे नही लिया जा सकता जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। वैराग्यवाद के समालोचक वैराग्यवाद का अर्थ देह-दण्डन, इन्द्रिय-निरोध और शरीर की माँगों का ठुकराना मात्र करते हैं; लेकिन जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों में वैराग्यवाद को देह-दण्डन या शरीर-यंत्रणा के अर्थ मे स्वीकार नही किया गया है।

वस्तुतः समालोच्य आचार-दर्शनों का विकास भोगवाद और वैराग्यवाद के ऐका-न्तिक दोषों को दूर करने मे ही हुआ है। इनका नैतिक दर्शन वैराग्यवाद एवं भोगवाद की समन्वय-भूमिका मे ही निखरता है। सभी का प्रयास यही रहा कि वैराग्यवाद के दोषों को दूर कर उसे किसी रूप में सन्तुलित बनाया जा सके। ऐकान्तिक वैराग्यवाद ज्ञानशून्य देह-दण्डन मात्र बनकर रह जाता है, जबकि ऐकान्तिक भोगवाद स्वार्थ-सुखवाद की ओर ले जाता है, जिसमें समस्त सामाजिक एवं नैतिक मूल्य समाप्त हो जाते हैं। भोग एवं त्याग के मध्य यथार्थ समन्वय आवश्यक है और भारतीय चिन्तन की यह विशेषता है कि उसने भोग व त्याग में वास्तविक समन्वय खोजा है। ईशावास्य उपनिषद् का ऋषि यह समन्वय का सूत्र देता है। वह कहता है—'त्यागपूर्वक भोग करो, आसक्ति मत रखो।'[1]

जैन-दृष्टिकोण—जैन-दर्शन वैराग्यवादी विचारधारा के सर्वाधिक निकट है, इसमें अत्युक्ति नही है। उत्तराध्ययन सूत्र में भोगवाद की समालोचना करते हुए कहा गया है कि 'काम-भोग शल्यरूप हैं, विषरूप है और आशिविष सर्प के समान है। काम-भोग की अभिलाषा करनेवाले काम-भोगों का सेवन नही करते हुए भी दुर्गति में जाते हैं।'[2] 'समस्त गीत विलापरूप हैं, सभी नृत्य विडम्बना हैं, सभी आभूषण भाररूप है और सभी काम-भोग दुःख प्रदाता हैं। अज्ञानियों के लिए प्रिय किन्तु अन्त मे दुःख प्रदाता काम-भोगों में वह सुख नहीं है, जो शील गुण में रत रहनेवाले तपोधनी भिक्षुओं को होता है।'[3]

सूत्रकृतांग में कहा गया है, 'जब तक मनुष्य कामिनी और कांचन आदि जड़-चेतन पदार्थों में आसक्ति रखता है, वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता।'[4] 'अन्त में पछताना न पड़े, इसलिए आत्मा को भोगों से छुड़ाकर अभी से ही अनुशासित करो। क्योंकि कामी मनुष्य अन्त में बहुत पछताते है और विलाप करते है।'[5] जिन्होंने काम-भोग

---

१. ईशावास्योपनिषद् १ २. उत्तराध्ययन ९।५३
३. वही, १३।१६-१७ ४. सूत्रकृतांग, १।१।२ ५. वही १।३।४।७

और पूजा-सत्कार (अहंकार तुष्टि के प्रयासों) का त्याग कर दिया है उन्होंने सब-कुछ त्याग दिया है। ऐसे ही लोग मोक्षमार्ग में स्थिर रह सके हैं।'[1] 'बुद्धिमान् पुरुषों से मैंने सुना है कि सुख-शीलता का त्याग करके, कामनाओं को शान्त करके निष्काम होना ही वीर का वीरत्व है।'[2] 'इसलिए साधक शब्द-स्पर्श आदि विषयों में अनासक्त रहे और निन्दित कर्म का आचरण नहीं करे, यही धर्म-सिद्धान्त का सार है। शेष सभी बातें धर्म सिद्धान्त के बाहर हैं।'[3]

फिर भी उपर्युक्त वैराग्यवादी तथ्यों का अर्थ देह-दण्डन या आत्म-पीडन नहीं है। जैन-वैराग्यवाद देह-दण्डन की उन सब प्रणालियों को, जो वैराग्य के सही अर्थों से दूर है, कतई स्वीकार नहीं करता। जैन आचार-दर्शन में साधना का सही अर्थ वासना-क्षय है, अनासक्त दृष्टि का विकास है, राग-द्वेष से ऊपर उठना है। उसकी दृष्टि में वैराग्य अन्तर की वस्तु है, उसे अन्तर में जागृत होना चाहिए। केवल शरीर-यंत्रणा या देह-दण्डन का जैन-साधना में कोई मूल्य नहीं है। सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में स्पष्ट कहा गया है कि 'कोई भले ही नग्नावस्था में फिरे या मास के अन्त में एक बार भोजन करे, लेकिन यदि वह माया से युक्त है तो बार-बार गर्भवास को प्राप्त होगा अर्थात् वह बन्धन से मुक्त नहीं होगा।'[4] जो अज्ञानी मास-मास के अन्त में कुशाग्र जितना आहार ग्रहण करता है वह वास्तविक धर्म की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं है।'[5] जैन-दृष्टि स्पष्ट कहती है कि बन्धन या पतन का कारण राग-द्वेष युक्त दृष्टि है, मूर्च्छा या आसक्ति है, न कि काम-भोग। विकृति के कारण तो काम-भोग के पीछे निहित राग या आसक्ति के भाव ही हैं, काम-भोग स्वयं नहीं। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है, 'काम-भोग किसी को न तो सन्तुष्ट कर सकते हैं, न किसी में विकार पैदा कर सकते हैं। किन्तु जो काम-भोगों में राग-द्वेष करता है वही उस राग-द्वेषजनित मोह से विकृत हो जाता है।'[6] जैन दृष्टि नैतिक आचरण के क्षेत्र में जिसका निषेध करती है वह तो आसक्ति या राग-द्वेष के भाव हैं। यदि पूर्ण अनासक्त अवस्था में भोग सम्भव हो तो उसका उन भोगों से विरोध नहीं है, लेकिन वह यह मानती है कि भोगों के बीच रहकर भोगों को भोगते हुए उनसे अनासक्त भाव रखना असम्भव चाहे न हो लेकिन सुसाध्य भी नहीं है। अतः काम-भोगों के निषेध का साधनात्मक मूल्य अवश्य मानना होगा। साधना का लक्ष्य पूर्ण अनासक्ति या वीतरागावस्था है। काम-भोगों का परित्याग उसकी उपलब्धि का साधन है। यदि यह साधन साध्य से समायोजित है, साध्य की दिशा में प्रयुक्त किया जा रहा है, तब तो वह ग्राह्य है, अन्यथा अग्राह्य है।

१. सूत्रकृतांग, १।३।४।१७ | २. वही, १।८।१८
३. वही, १।९।३५ | ४. वही, १।२।१।९
५. उत्तराध्ययन, ९।४४ | ६. वही, ३२।१०१

बौद्ध-दृष्टिकोण—बौद्ध-परम्परा में वैराग्यवाद और भोगवाद मे समन्वय खोजा गया है। बुद्ध मध्यममार्ग के द्वारा इसी समन्वय के सूत्र को प्रस्तुत करते है। अंगुत्तर-निकाय में कहा है, 'भिक्षुओं, तीन मार्ग हैं:—१ शिथिल मार्ग, २ कठोर मार्ग और ३ मध्यम मार्ग। भिक्षुओं, किसी-किसी का ऐसा मत होता है, ऐसी दृष्टि होती है—काम-भोगों मे दोष नहीं है। वह काम-भोगोंमें जा पड़ता है। भिक्षुओं, यह शिथिल मार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, कठोर मार्ग कौनसा है? भिक्षुओं, कोई-कोई नग्न होता है, वह न मछली खाता है, न मास खाता है, न सुरा पीता है, न मेरय पीता है, न चावल का पानी पीता है। वह या तो एक ही घर मे लेकर खानेवाला होता है या एक ही कौर खाने वाला; दो घरों मे लेकर खाने वाला होता है या दो ही कौर खाने वाला ⋯ सात घरों मे लेकर खाने वाला होता है या सात कौर खाने वाला। वह दिन मे एक बार भी खाने वाला होता है, दो दिन मे एक बार भी खाने वाला होता है ⋯सात दिन मे एक बार भी खाने वाला होता है, इस प्रकार वह पन्द्रह दिन मे एक बार खाकर भी रहता है। भात खाने वाला भी होता है, आचाम खाने वाला भी होता है, खली खानेवाला भी होता है, तिनके (घास) खानेवाला भी होता है, गोबर खानेवाला भी होता है, जगल के पेडों से गिरे फल-मूल खाने वाला भी होता है। वह सन के वपडे भी धारण करता है, कुश का बना वस्त्र भी पहनता है, छाल का वस्त्र भी पहनता है, फलक (छाल) का वस्त्र भी पहनता है, केशों से बना कम्बल भी पहनता है, पूँछ के बालों का बना कम्बल भी पहनता है, उल्लू के परों का बना वस्त्र भी पहनता है। वह केश-दाढ़ी का लुंचन करनेवाला भी होता है। वह बैठने का त्याग कर निरन्तर खड़ा ही रहने वाला भी होता है। वह उकड़ूं बैठ कर प्रयत्न करनेवाला भी होता है, वह कांटों की शैय्या पर सोनेवाला भी होता है। प्रातः, मध्याह्न, सायं-दिन मे तीन बार पानी मे जानेवाला होता है। इस तरह वह नाना प्रकार से शरीर को कष्ट या पीड़ा पहुँचाता हुआ विहार करता है। भिक्षुओं, यह कठोर मार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, मध्यममार्ग कौनसा है? भिक्षुओं, भिक्षु शरीर के प्रति जागरूक रहकर विचरता है। वह प्रयत्नशील, ज्ञानयुक्त, स्मृतिमान हो, लोक मे जो लोभ, वैर, दौर्मनस्य है, उसे हटाकर विहरता है, वेदनाओं के प्रति⋯चित्त के प्रति⋯ धर्मो के प्रति जागरूक रहकर विचरता है। वह प्रयत्न-शील, ज्ञान-युक्त, स्मृति-मान हो लोक मे जो लोभ और दौर्मनस्य है उसे हटाकर विहरता है। भिक्षुओं, यह मध्यममार्ग कहलाता है। भिक्षुओं, ये तीन मार्ग है।'[1] बुद्ध कठोरमार्ग (देह-दण्डन) और शिथिलमार्ग (भोगवाद) दोनों को ही अस्वीकार करते है। बुद्ध के अनुसार यथार्थ नैतिक जीवन का मार्ग मध्यम मार्ग है। उदान मे भी बुद्ध अपने इसी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, 'ब्रह्मचर्य (संन्यास) के साथ व्रतों का पालन

१. अंगुत्तरनिकाय, ३।१५१

करना ही सार है—यह एक अन्त है। काम-भोगों के सेवन में कोई दोष नहीं—यह दूसरा अन्त है। इन दोनों प्रकार के अन्तों के सेवन से संस्कारों की वृद्धि होती है और मिथ्या धारणा बढ़ती है।'[1] इस प्रकार बुद्ध अपने मध्यममार्गीय दृष्टिकोण के आधार पर वैराग्यवाद और भोगवाद में यथार्थ समन्वय स्थापित करते हैं।

गीता का दृष्टिकोण—गीता का अनासक्ति मूलक कर्मयोग भी भोगवाद और वैराग्यवाद (देह-दण्डन) की समस्या का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है। गीता भी वैराग्य की समर्थक है। गीता में अनेक स्थलों पर वैराग्यभाव का उपदेश है,[2] लेकिन गीता वैराग्य के नाम पर होनेवाले देह-दण्डन की प्रक्रिया की विरोधी है। गीता में कहा है कि आग्रहपूर्वक शरीर को पीड़ा देने के लिए जो तप किया जाता है वह तामसतप है।[3] इस प्रकार भोगवाद और वैराग्यवाद के सन्दर्भ में गीता भी समन्वयात्मक एवं सन्तुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है।

विधेयात्मक बनाम निषेधात्मक नैतिकता

निवृत्ति और प्रवृत्ति का विचार निषेधात्मक और विधेयात्मक नैतिकता की दृष्टि से भी किया जा सकता है। जो आचार-दर्शन निषेधात्मक नैतिकता को प्रकट करते हैं वे कुछ विचारकों की दृष्टि में निवृत्तिपरक हैं और जो आचार-दर्शन विधेयात्मक नैतिकता को प्रकट करते हैं वे प्रवृत्तिपरक हैं।

इस अर्थ में विवेच्य आचार दर्शनों में कोई भी आचार-दर्शन एकान्त रूप से न तो निवृत्तिपरक है न प्रवृत्तिपरक। प्रत्येक निषेध का एक विधेयात्मक पक्ष होता है और प्रत्येक विधेय का एक निषेध पक्ष होता है। जहाँ तक जैन, बौद्ध और गीता के आचार-दर्शनों की बात है, सभी में नैतिक आचरण के विधि निषेध के सूत्र ताने-बाने के रूप में एक-दूसरे से मिले हुए हैं।

जैन दृष्टिकोण—यदि हम जैन आचार-दर्शन के नैतिक ढाँचे को साधारण दृष्टि से देखें तो हमें हर कहीं निषेध का स्वर ही सुनाई देता है। जैसे हिंसा न करो, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो, संग्रह न करो, क्रोध न करो, लोभ न करो, अभिमान न करो। इस प्रकार सभी दिशाओं में निषेध की दीवारें खड़ी हुई हैं। वह मात्र नहीं करने के लिए कहता है, करने के लिए कुछ नहीं कहता। यही कारण है कि सामान्य जन उसे निवृत्तिपरक कह देता है। लेकिन यदि गहराई से विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह धारणा सर्वांश सत्य नहीं है। उपाध्याय अमरमुनिजी जैन आचार-दर्शन के निषेधक सूत्रों का हार्द प्रकट करते हुए लिखते हैं कि 'यह सत्य है कि जैन-दर्शन ने निवृत्ति का उच्चतम आदर्श प्रस्तुत किया है। उसके प्रत्येक चित्र में निवृत्ति का रंग

---

१. उदान, ६।८ २. गीता, ६।३५, १३।८, १८।५२ ३. वही, १७।५, १७।१९

भरा हुआ है, किन्तु दृष्टि जरा साफ हो, स्वच्छ और तीक्ष्ण हो तो उसके रंगों का विश्लेषण करने पर यह समझा जा सकता है कि निषेधक सूत्रों की कहाँ, क्या उपयोगिता है, निवृत्ति के स्वर मे क्या मूल भावनाएँ ध्वनित है ? जैन-दर्शन एक बात कहता है कि यह देखो कि तुम्हारी प्रवृत्ति निवृत्तिमूलक है या नहीं। तुम दान कर रहे हो, दीन दुःखियों की सेवा के नाम पर कुछ पैसा लुटा रहे हो, किन्तु दूसरी ओर यदि शोषण का कुचक्र भी चल रहा है तो इस दान और सेवा का क्या अर्थ है ? सौ-सौ घाव करके एक-दो घावों की मरहम-पट्टी करना सेवा का कौनसा आदर्श है ?[1] वास्तविकता यह है कि आचरण के मूल मे यदि निवृत्ति नहीं है तो प्रवृत्ति का भी कोई अर्थ नही रहता है। प्रवृत्ति के मूल मे निवृत्ति आवश्यक है। सेवा, परोपकार, दान आदि सभी नैतिक विधानों के पीछे अनासक्ति एवं स्वहित के परित्याग के निषेधात्मक स्वरों का होना आवश्यक है अन्यथा नैतिक जीवन की सुमधुरता एवं समस्वरता नष्ट हो जायेगी। निषेध के अभाव मे विधेय भी अर्थहीन है। विधान के पूर्व प्रस्तुत निषेध ही उस विधान को सच्ची यथार्थता प्रदान करता है। सेवा, परोपकार, दान के सभी नैतिक विधि-आदेशों के पीछे झकृत हो रहे निषेधक स्वर के अभाव मे उन विधि-आदेशो का मूल्य शून्य हो जायेगा, नैतिकता की दृष्टि मे उनका कोई अर्थ ही नही रहेगा। जैन आचार-दर्शन मे यत्र-तत्र-सर्वत्र जो निषेध के स्वर सुनाई देते है, उनके पीछे मूल भावना यही है। उसके अनुसार निषेध के आधार पर किया हुआ विधान ही आचरण को समुज्ज्वल बना सकता है। निषेधात्मक नैतिक आदेश नैतिक जीवन के सुन्दर चित्र-निर्माण के लिए एक सुन्दर, स्वच्छ एवं समपार्श्वभूमि प्रदान करते है, जिस पर विधिमूलक नैतिक आदेशों की तूलिका उस सुन्दर चित्र का निर्माण कर पाती है। निषेध के द्वारा प्रस्तुत स्वच्छ एवं समपार्श्वभूमि ही विधि के चित्र को सौन्दर्य प्रदान कर सकती है। संक्षेप मे जैन आचार-दर्शन की नैतिकता अपने बाह्य रूप मे निषेधात्मक प्रतीत होती है, लेकिन इस निषेध मे भी विधेयकता छिपी है। यही नही, जैनागमो मे अनेक विधिपरक आदेश भी मिलते है।

जैन आचार-दर्शन मे विधि-निषेध का यथार्थ स्वरूप क्या है ? इसे प० सुखलालजी इन शब्दो मे व्यक्त किया है—जैनधर्म प्रथम तो दोष विरमण (निषेध या त्याग) रूप शील-विधान करता है (अर्थात् निषेधात्मक नैतिकता प्रस्तुत करता है), परन्तु चेतना और पुरुषार्थ ऐसे नही है कि वे मात्र अमुक दिशा मे निष्क्रिय होकर पड़े रहे। वे तो अपने विकास की भूख दूर करने के लिए गति की दिशा ढूँढते ही रहते है, इसलिए जैनधर्म ने निवृत्ति के साथ ही शुद्ध प्रवृत्ति (विहित आचरणरूप चारित्र) के विधान भी किये है। उसने कहा है कि मलिन वृत्ति मे आत्मा का घात न होने देना और उसके रक्षण मे ही (स्वदया मे ही) बुद्धि और पुरुषार्थ का उपयोग करना चाहिए।

१. श्री अमरभारती अप्रैल १९६६ पृ० २०-२१।

प्रवृत्ति के इस विधान में से ही सत्य-भाषण, ब्रह्मचर्य, सन्तोष आदि विविध मार्ग निष्पन्न होते हैं।[1]

बौद्ध दृष्टिकोण—बौद्ध आचार-दर्शन में निषेधात्मक नैतिकता का स्वर मुखर हुआ है। भगवान् महावीर के समान भगवान् बुद्ध ने भी नैतिक जीवन के लिए अनेक निषेधात्मक नियमों का प्रतिपादन किया है। लेकिन केवल इस आधार पर बौद्ध आचार-दर्शन को निषेधात्मक नीतिशास्त्र नहीं कह सकते। बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में निषेध के नियमों पर बल अवश्य दिया है, फिर भी बौद्ध आचार-दर्शन को निषेधात्मक नहीं माना जा सकता। बुद्ध ने गृहस्थ उपासकों और भिक्षुओं दोनों के लिए अनेक विधेयात्मक कर्तव्यों का विधान भी किया है जिनमें पारस्परिक सहयोग, लोक-मंगल के कर्तव्य सम्मिलित हैं। लोक-मंगल की साधना का स्वर बुद्ध का मूल स्वर है।

गीता का दृष्टिकोण—गीता के आचार-दर्शन में तो निषेध की अपेक्षा विधान का स्वर ही अधिक प्रबल है। गीता का मूलभूत दृष्टिकोण विधेयात्मक नैतिकता का है। श्रीकृष्ण यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि यद्यपि मानसिक शान्ति और मन की साम्यावस्था के लिए विषय-वासनाओं से निवृत्त होना आवश्यक है, तथापि इसका अर्थ कर्तव्यमार्ग से बचना नहीं है। सामाजिक क्षेत्र में हमारे जो भी उत्तरदायित्व हैं उनका हमें अपने वर्णाश्रम-धर्म के रूप में परिपालन अवश्य ही करना चाहिए। गीता के समग्र उपदेश का सार तो यही है कि अर्जुन अपने क्षात्रधर्म के कर्तव्यों का पालन करे। समाजसेवा के रूप में यज्ञ और लोकसंग्रह गीता के अनिवार्य तत्त्व हैं। अतः कहा जा सकता है कि गीता विधेयात्मक नैतिकता की समर्थक है, यद्यपि वह विधान के लिये अनासक्तिरूपी निषेधक तत्त्व को भी आवश्यक मानती है।

व्यक्तिपरक बनाम समाजपरक नीतिशास्त्र

निवृत्ति और प्रवृत्ति के विषय में एक विचार-दृष्टि यह भी है कि जो आचार-दर्शन व्यक्तिपरक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं, वे निवृत्तिपरक हैं और जो आचार-दर्शन समाजपरक नीतिशास्त्र का प्रतिपादन करते हैं वे प्रवृत्तिपरक हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि जो आचार-दर्शन भोगवाद में व्यक्तिपरक (स्वार्थ-सुखवादी) दृष्टि रखते हैं, वे निवृत्तिपरक नहीं माने जा सकते। संक्षेप में जो लोक-कल्याण को प्रमुखता देते हैं वे प्रवृत्तिमार्गी कहे जाते हैं तथा जो आचार-दर्शन वैयक्तिक आत्मकल्याण को प्रमुखता देते हैं वे निवृत्तिमार्गी कहे जाते हैं। पं० सुखलालजी लिखते हैं, 'प्रवर्तक धर्म का संक्षेप सार यह है कि जो और जैसी समाज-व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्यबद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुखलाभ करे। प्रवर्तक धर्म का उद्देश्य समाज-व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० १२६–१२७

का सुधार करना है। प्रवर्तक धर्म समाजगामी था, इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य (जो ऐहिक जीवन से सम्बन्ध रखते हैं) और धार्मिक कर्तव्य (जो पारलौकिक जीवन से सम्बन्ध रखते है) का पालन करे। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है, पर उस (सुख की इच्छा) का निर्मूल नाश करना न शक्य है और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है। उसे लाँघकर कोई विकास नहीं कर सकता। निवर्तक धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्म-साक्षात्कार की उत्कृष्ट वृत्ति से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को—आत्मतत्त्व है या नहीं ? है तो कैसा है ? क्या उसका साक्षात्कार संभव है ? और है तो किन उपायों से संभव है ?—इन प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं है कि जो एकान्त, चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही सम्भव हो सकता है। उनका समाजगामी होना सम्भव नहीं।....अतएव निवर्तक धर्म समस्त सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमे रुकावट डालनेवाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।[1]

भारतीय चिन्तन मे नैतिक दर्शन की समाजगामी एवं व्यक्तिगामी, यह दो विधाएँ तो अवश्य रही हैं। परन्तु इनमें कभी भी आत्यन्तिक विभेद स्वीकार किया गया हो ऐसा प्रतीत नही होता। जैन और बौद्ध आचार-दर्शनों मे प्रारम्भ मे वैयक्तिक कल्याण का स्वर ही प्रमुख था, लेकिन वहाँ पर भी हमे सामाजिक भावना या लोकहित से पराङ्मुखता नही दिखाई देती है। बुद्ध और महावीर की संघ-व्यवस्था स्वयं ही इन आचार-दर्शनों की सामाजिक भावना का प्रबलतम साक्ष्य है। दूसरी ओर गीता का आचार-दर्शन जो लोक संग्रह अथवा समाज-कल्याण की दृष्टि को लेकर ही आगे आया था, उसमे भी वैयक्तिक निवृत्ति का अभाव नहीं है। तीनों आचार-दर्शन लोक-कल्याण की भावना को आवश्यक मानते है, लेकिन उसके लिए वैयक्तिक जीवन मे निवृत्ति आवश्यक है। जब तक वैयक्तिक जीवन मे निवृत्ति की भावना का विकास नहीं होता, तब तक लोक-कल्याण की साधना सम्भव नहीं है। आत्महित अर्थात् वैयक्तिक जीवन मे नैतिक स्तर का विकास लोकहित का पहला चरण है। सच्चा लोक-कल्याण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति निवृत्ति के द्वारा अपना नैतिक विकास कर ले। वैयक्तिक नैतिक विकास एवं आत्म-कल्याण के अभाव मे लोकहित की साधना पाखण्ड है, दिखावा है। जिसने आत्म-विकास नही किया है, जो अपने वैयक्तिक जीवन को नैतिक विकास की भूमिका

१. जैनधर्म का प्राण, पृ० ५६, ५८, ५९

पर स्थित नही कर पाया है, उसमे लोक-मंगल की कामना सबसे बडा भ्रम है, छलना है। यदि व्यक्ति के जीवन मे वासना का अभाव नही है, उसको लोभ की ज्वाला शान्त नही हुई है, तो उसके द्वारा किया जानेवाला लोकहित भी इनमे ही उद्भूत होगा। उसके लोकहित मे भी स्वार्थ एव वासना छिपी होगी और ऐसा लोकहित जो वैयक्तिक वासना एवं स्वार्थ की पूर्ति के लिए किया जा रहा है, लोकहित ही नही होगा।

उपाध्याय अमरमुनिजी जैन-दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखते है, 'व्यक्तिगत जीवन मे जब तक निवृत्ति नही आ जाती तब तक समाज-सेवा की प्रवृत्ति विशुद्ध नही हो सकती। अपने व्यक्तिगत जीवन मे मर्यादाहीन भोग और आकाक्षाओ से निवृत्ति लेकर समाजकल्याण के लिए प्रवृत्त होना जैन-दर्शन का पहला नीतिधर्म है। व्यक्तिगत जीवन का शोधन करने के लिए असत्कर्मो से पहले निवृत्ति करनी होती है। जब निवृत्ति आएगी तो जीवन पवित्र और निर्मल होगा, अन्त करण विशुद्ध होगा और तब जो भी प्रवृत्ति होगी वह लोक-हिताय एव लोक-सुखाय होगी। जैन-दर्शन की निवृत्ति का हार्द व्यक्तिगत जीवन मे निवृत्ति और सामाजिक जीवन मे प्रवृत्ति है। लोकसेवक या जनसेवक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं द्वन्द्वों से दूर रहे, यह जैन-दर्शन की आचार-संहिता का पहला पाठ है।'[1]

आत्महित (वैयक्तिक नैतिकता) और लोकहित (सामाजिक नैतिकता) परस्पर विरोधी नही है, वे नैतिक पूर्णता के दो पहलू है। आत्महित मे परहित और परहित मे आत्महित समाहित है। आत्मकल्याण और लोककल्याण एक ही सिक्के के दो पहलू है, जिन्हे अलग देखा तो जा सकता है, अलग किया नही जा सकता। जैन, बौद्ध एव गीता की विचार धाराएं आत्मकल्याण (निवृत्ति) और लोक कल्याण (प्रवृत्ति) को अलग-अलग देखती तो है, लेकिन उन्हे एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् करने का प्रयास नही करती।

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों आवश्यक–निवृत्ति और प्रवृत्ति का समग्र विवेचन हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि हम निवृत्ति या प्रवृत्ति का चाहे जो अर्थ ग्रहण करे, हर स्थिति मे, एकान्त रूप से निवृत्ति या प्रवृत्ति के सिद्धान्त को लेकर किसी भी आचार-दर्शन का सर्वांग विकास नही हो सकता। जैसे जीवन मे आहार और निहार दोनो आवश्यक है, इतना ही नही उनके मध्य समुचित सन्तुलन भी आवश्यक है, वैसे ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो आवश्यक है। प० सुखलाल जी का विचार है कि समाज कोई भी हो वह मात्र निवृत्ति की भूल-भुलैया पर जीवित नही रह सकता और न नितान्त प्रवृत्ति ही साध सकता है। यदि प्रवृत्ति-चक्र का महत्त्व मानने वाले आखिर मे प्रवृत्ति के तूफान और आँधी मे फसकर मर सकते है तो यह भी सच है कि प्रवृत्ति का आश्रय लिये बिना मात्र निवृत्ति हवाई किला बन जाती है। ऐतिहासिक और दार्शनिक सत्य यह है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति मानव-कल्याण रूपी सिक्के के दो पहलू है। दोष, गलती, बुराई और

[1] श्री अमर भारती (अप्रैल १९६६), पृ० २१

अकल्याण से तब तक कोई नहीं बच नहीं सकता, जब तक कि दोष-निवृत्ति के साथ-साथ सद्गुणप्रेरक और कल्याणमय प्रवृत्ति मे प्रवृत्त न हुआ जाय। बीमार व्यक्ति केवल कुपथ्य के सेवन से निवृत्त होकर ही जीवित नहीं रह सकता, उसे रोग निवारण के लिए पथ्य का सेवन भी करना होगा। शरीर मे दूषित रक्त को निकाल डालना जीवन के लिए अगर जरूरी है तो उसमे नये रक्त का सचार करना भी उतना ही जरूरी है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति की सीमाएँ एवं क्षेत्र—जैन-दर्शन की अनेकातवादी व्यवस्था यह मानती है कि न प्रवृत्तिमार्ग ही शुभ है और न एकान्तरूप मे निवृत्तिमार्ग ही शुभ है। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मे शुभत्व-अशुभत्व के तत्त्व है। प्रवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। इसी प्रकार निवृत्ति शुभ भी है और अशुभ भी। प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्र है, स्वस्थान है और अपने-अपने स्वस्थानों मे वे शुभ है, लेकिन परस्थानो या क्षेत्रो मे वे अशुभ है।

न केवल आहार से जीवन-यात्रा सम्भव है और न केवल निहार से। जीवन-यात्रा के लिए दोनो आवश्यक है, लेकिन सम्यक् जीवन-यात्रा के लिए दोनो का अपने-अपने क्षेत्रो मे कार्यरत होना भी आवश्यक है। यदि आहार के अग निहार का और निहार के अग आहार का कार्य करने लगे अथवा आहार योग्य पदार्थो का निहार होने लगे और निहार के पदार्थों का आहार किया जाने लगे तो व्यक्ति का स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा। वे ही तत्त्व जो अपने स्वस्थान एवं देशकाल मे शुभ है, परस्थान मे अशुभ रूप मे परिणत हो जायेगे।

जैन दृष्टिकोण—भगवान् महावीर ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को नैतिक विकास के लिये आवश्यक कहा है। इतना ही नही, उन्होने प्रवृत्ति और निवृत्ति के अपने-अपने क्षेत्रो की व्यवस्था भी की और यह बताया कि वे स्वक्षेत्रो मे कार्य करते हुए ही नैतिक विकास की ओर ले जा सकती है। व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि वह प्रवृत्ति और निवृत्ति के स्वक्षेत्रो एव सीमाओ को जाने और उनका अपने-अपने क्षेत्रों मे ही उपयोग करे। जिस प्रकार मोटर के लिए गतिदायक यत्र (एक्सीलेटर) और गति-निरोधक यत्र (ब्रेक) दोनों ही आवश्यक है, लेकिन साथ ही मोटर चालक के लिए यह भी आवश्यक है कि दोनो के उपयोग के अवसरो या स्थानो को समझे और यथावसर एवं यथास्थान ही उनका उपयोग करे। दोनो के अपने-अपने क्षेत्र है; और उन क्षेत्रों मे ही उनका समुचित उपयोग यात्रा की सफलता का आधार है। यदि चालक उतार पर ब्रेक न लगाये और चढाव पर एक्सीलेटर न दबाये अथवा उतार पर एक्सीलेटर दबाये और चढाव पर ब्रेक लगाये तो मोटर नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। महावीर ने जीवन

१. देखिये—जैनधर्म का प्राण; पृ० ६८।

की व्यावहारिता को गहराई मे समझा था। साधु और गृहस्थ दोनो के लिए ही प्रवृत्ति और निवृत्ति को आवश्यक माना, लेकिन साथ-साथ यह भी कहा कि दोनो के अलग-अलग क्षेत्र है। एक प्रबुद्ध विचारक के रूप मे भगवान् महावीर ने कहा—"एक ओर से विरत होओ, एक ओर प्रवत्त होओ, असयम से निवृत्त होओ, और सयम मे प्रवत्त होओ।'[1] यह कथन उनकी पैनी दृष्टि का परिचायक है। इसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति के क्षेत्रो को अलग-अलग करते हुए सफल नियता के रूप मे उन्होने कहा असयम अर्थात् वासनाओ का जोवन', समत्व से विचलन का, पतन का मार्ग है। यह जीवन का उतार है, अत यहा ब्रेक लगाओ, नियत्रण करो। इस दिशा मे निवृत्ति को अपनाओ। सयम अर्थात् आदर्श मूलक जीवन विकास का मार्ग है, वह जीवन का चढाव है, उसमे गति देने की आवश्यकता है, अत उस क्षेत्र मे प्रवृत्ति को अपनाओ।

बौद्ध दृष्टिकोण—भगवान् बुद्ध ने भी प्रवृत्ति–निवृत्ति मे समन्वय साधते हुए कहा है कि शीलव्रत-परामर्श अर्थात् सन्यास का बाह्य रूप से पालन करना ही सार है यह एक अन्त है, काम-भोगो के सेवन मे कोई दोष नही, यह दूसरा अन्त है। अन्तो के सेवन मे सस्कारो की वृद्धि होती है।[2] अत साधक को प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्दर्भ मे अतिवादी या एकातिक दृष्टि न अपनाकर एक समन्वयवादी दृष्टि अपनाना चाहिए।

गीता का दृष्टिकोण—गीता का आचार-दर्शन एकात रूप से प्रवृत्ति या निवृत्ति का समर्थन नही करता। गीताकार की दृष्टि मे भी सम्यक् आचरण के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो ही आवश्यक है। इतना ही नही, मनुष्य मे इस बात का ज्ञान होना भी आवश्यक है कि कौन से कार्यों मे प्रवृत्ति आवश्यक है और कौन से कार्यो मे निवृत्ति। गीताकार का कहना है कि जिस व्यक्ति को प्रवृत्ति और निवृत्ति की सम्यक् दिशा का ज्ञान नही है, अर्थात् जो यह नही जानता कि पुरुषार्थ के साधन रूप किस कार्य मे प्रवृत्त होना उचित है और उसके विपरीत अनर्थ के हेतु किस कार्य से निवृत्त होना उचित है, वह आसुरी सम्पदा से युक्त है। जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नही है, ऐसे आसुरी प्रकृति के व्यक्ति मे न तो शुद्धि होती है, न सदाचार होता है और न सत्य होता है।[3]

उपसंहार—इस प्रकार विवेच्य आचार-दर्शनो मे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो को स्वीकार किया गया है, फिर भी जैन-दर्शन का दृष्टिकोण निवृत्ति प्रधान प्रवृत्ति का है। वह निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति का विधान करता है। बौद्ध-दर्शन मे निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनो का समान महत्त्व है। यद्यपि प्रारंभिक बौद्ध-दर्शन निवृत्यात्मक प्रवृत्ति का ही समर्थक था। गीता का दृष्टिकोण प्रवृत्ति प्रधान निवृत्ति का है। वह प्रवृत्ति के लिए निवृत्ति का विधान करती है। जहाँ तक सामान्य व्यावहारिक जीवन की बात है, हमे

१. उत्तराध्ययन, ३१।२ २. उदान, ६।८ ३. गीता (शा०), १६।७

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को स्वीकार करना होगा। दोनों की अपनी-अपनी सीमाएं एवं क्षेत्र है, जिनका अतिक्रमण करने पर उनका लोकमंगलकारी स्वरूप नष्ट हो जाता है। निवृत्ति का क्षेत्र आन्तरिक एवं आध्यात्मिक जीवन है और प्रवृत्ति का क्षेत्र बाह्य एवं सामाजिक जीवन है। दोनों को एक-दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। निवृत्ति उसी स्थिति मे उपादेय हो सकती है जबकि वह निम्न सीमाओं का ध्यान रखे:—

१. निवृत्ति को लोककल्याण की भावना से विमुख नहीं होना चाहिए।

२. निवृत्ति का उद्देश्य मात्र अशुभ मे निवृत्ति होनी चाहिए।

३. निवृत्यात्मक जीवन में साधक को सतत जागरूकता होना चाहिए निवृत्ति मात्र आत्मपीड़न बनकर न रह जावे, वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास मे सहायक भी हो।

इसी प्रकार प्रवृत्ति भी उसी स्थिति में उपादेय है जबकि वह निम्न सीमाओं का ध्यान रखे :—

१. यदि निवृत्ति और प्रवृत्ति अपनी-अपनी सीमाओं में रहते हुए परस्पर अविरोधी हों तो ऐसी स्थिति मे प्रवृत्ति त्याज्य नहीं है।

२. प्रवृत्ति का उद्देश्य हमेशा शुभ होना चाहिए।

३. प्रवृत्ति मे क्रियाओं का सम्पादन विवेकपूर्वक होना चाहिए।

४. प्रवृत्ति राग-द्वेष अथवा मानसिक विकारों (कषायो) के वशीभूत होकर नही की जानी चाहिए।

इस प्रकार निवृत्ति और प्रवृत्ति अपनी मर्यादाओं में रहती है तो वे जहां एक ओर सामाजिक विकास एवं लोकहित मे सहायक हो सकती है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास की ओर भी ले जाती हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ मे प्रवृत्ति ही नैतिक आचरण का सच्चा मार्ग है।[1]

१ उद्धृत—त्रिलोकशताब्दी अभिनन्दन ग्रंथ, लेख-खण्ड, पृ० ४३